TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY

OU_176849

UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 922 | R 16 T Accession No. G. H. 1776

Author रामपुरिया, श्रीचन्द | Vol. I

Title तीर्थङ्कर वर्धमान | 1953

This book should be returned on or before the date last marked below.

तीर्थङ्कर वर्द्धमान

[प्रथम खण्ड]

लेखक :

श्री श्रीचन्द रामपुरिया बी. कॉम., बी. एल.

भूमिका लेखक :

श्री यशपाल जैन सं० 'जीवन-साहित्य'

प्रकाशक :

हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया

सुजानगढ़ (बीकानेर)

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी

वीरनिर्वाण संवत् २४८०

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ

मूल्य ५)

मुद्रक :

मदनकुमार मेहता

(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता।

समर्पित

बहुश्रुतों में बहुश्रुत

प्रज्ञा, सेवा और विनय

की

जीवन्त मूर्त्ति

तपोपूत स्थविर मंत्री

मुनि श्री मगनलालजी को

तीर्थङ्कर वर्द्धमान

(जीवन-चरित और प्रवचन)

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥

उत्त० २२ : २६

—तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्रसे तथा तप, क्षमा और निर्लोभतासे सदा वृद्धि पाते रहना ।

प्रस्तावना

हिन्दी भाषाभाषी जनताके सम्मुख तीर्थङ्कर वर्द्धमानके चरितका यह प्रथम खण्ड उपस्थित करते हुए एक आत्म-तृप्तिका अनुभव हो रहा है। इस महान् विभूतिके सम्बन्धमें हिन्दी-साहित्यमें नगण्य-सा ही लिखा मिलता है। युग-युग प्रकाशकारी इस महान् पुरुषके व्यक्तित्वका पूरा तो क्या स्वल्प मात्र भी नाप-तोल अभी तक हिन्दी-जगत् में नहीं हुआ।

इस प्रथम खण्डमें दो भाग हैं। प्रथम भागमें जीवन-चरित और द्वितीय भागमें प्रवचन-संग्रह है।

आज तक जो महावीर चरित लिखे गये हैं वे प्रायः कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यके 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' काव्यकी सामग्रीके आधार पर ही हैं। वर्षोंसे इच्छा थी कि तीर्थङ्कर महावीरका, प्राचीन-से प्राचीन सामग्री पर आधारित, एक प्रामाणिक जीवन-चरित हिन्दीमें लिखा जाय। यह उसी दिशामें एक प्रयत्न मात्र है।

इस जीवनीकी सामग्री अधिकांशतः आगम-ग्रन्थोंसे ली गई है और पाद टिप्पणीमें संदर्भ दे दिये हैं। जिन घटनाओंका आगम-ग्रन्थोंमें उल्लेख नहीं, इन्हें छोड़ दिया गया है। इस तरह प्राचीन-से-प्राचीन सामग्रीके आधार पर महावीरके जीवनकी जो रूप-रेखा बनती है, वही

सहज भावसे इस खंडके प्रथम भागमें आई है। जीवन-चरितमें महावीरके प्रभावशाली व्यक्तित्वके विषयमें लेखककी ओरसे एक शब्द भी नहीं लिखा गया और न उनकी विशेषताओंको दिखानेकी चेष्टा की गई है। पाठकोंको यह कमी अखरेगी पर ऐसा जान-बूझ कर ही किया गया है। महावीरका अद्भुत और अनन्य व्यक्तित्व उस समय तक अतिरंजित ही बना रहेगा जबतक उनके जीवनके सारे प्रसग सामने नहीं आ जायँगे। ऐसे प्रसगोंके अध्ययनसे ग्रन्थित व्यक्तित्व ही महावीरका सच्चा व्यक्तित्व होगा और वही सर्वाधिक विश्वसनीय बन सकेगा; इसी दृष्टिसे लेखकने उनके व्यक्तित्वके बारेमें अभी इस खण्डमें कोई जिक्र नहीं किया।

'तीर्थङ्कर वर्द्धमान' का द्वितीय खण्ड प्रेसमें है, जिसमें भगवान महावीरके जीवन-प्रसंगोंका सग्रह है। इस प्रथम खण्डके द्वितीय भाग में प्रवचनोंका संग्रह है। ज्ञाता धर्म सूत्रके आधार पर लेखक द्वारा प्रस्तुत महावीरकी धर्मकथाओंका संग्रह* पहले ही प्रकाशित किया जा चुका है। तृतीय खण्डमें इसी सब सामग्रीके आधारपर भगवान् महावीरके अद्वितीय व्यक्तित्व और उनकी महान् देनके विषय पर प्रकाश डाला जायगा और इसमें भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध और महात्मा गांधीका तुलनात्मक अध्ययन भी रहेगा। यह प्रथम खण्ड समूची जीवनी उपस्थित करनेकी योजनाका एक अंश मात्र ही है।

इस प्रथम खण्डके उत्तरार्द्धमें महावीरके प्रवचनोंका सिलसिलेवार और एक योजनापूर्वक सग्रह किया गया है। अर्थमें मूलके यथाशक्य नजदीक रहनेकी चेष्टा की है। सारे प्रवचनोंको पढ़ लेनेपर तीर्थङ्कर-

* 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ'—प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ३, पोर्च्यूगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता मूल्य ।।।)

वर्द्धमानका जीवन किस सिद्धान्तवाद और कैसी जीवन-साधनाके लिए था, यह सहज ही समझमें आ सकेगा।

यह प्रवचन-संग्रह पहले मैंने गद्यमें तैयार किया और बादमें मूल सहित। विद्वतवर पं० बेचरदासजी दोशीकी 'महावीर वाणी' सस्ता साहित्य से सन् १९४२ में प्रकाशित हुई उसके पहले ही यह संग्रह तैयार हो चुका था और इसके फुटकर अंश कुछ पत्रोंमें प्रकाशित भी हुए थे। एक समर्थ विद्वान द्वारा सम्पादित उपरोक्त संग्रहके प्रकाशनके बाद इस संग्रहके प्रकाशनकी आवश्यकता न देख मैंने इसे यों ही रख छोड़ा।

सं० २००५ की बात है। मैं चातुर्मासमें पूज्यपाद आचार्य श्री तुलसीके दर्शनके लिए छापर गया था। इन दिनों आचार्यश्री प्रवचन संग्रहका ही कार्य करा रहे थे। सहज ही एक सुझाव मुंहसे निकल पड़ा। आचार्यदेवको वह पसन्द पड़ा और अकस्मात् इस तरहका सुझाव कैसे दे पाया—पूछने की कृपा की। मैंने अपने संग्रहकी बात चलाई, जो संयोगवश उस समय मेरे साथ छापरमें था। महती कृपाकर आचार्यश्रीने संग्रह अवलोकनार्थ रख लिया। मैं कुछ दिनों बाद कलकत्ता चला आया। समाजभूषण छोगमलजी चोपड़ाने इस संग्रहका जिक्र करते हुए एक बार लिखा—आचार्य देवने तुम्हारे संग्रहको परिश्रमसाध्य और उपयोगी बतलाया है। मैंने अपना अहोभाग्य समझा।

छापर चातुर्मासके बाद आचार्य देव राजलदेसर पधारे जहां, सं० २००५ का माघमहोत्सव था। संतोंने देखनेके बाद संग्रह एक श्रावकको संभला दिया। वे मुझे देना भूल गये और उसका पता न चल पाया। सं० २००७में मैं लुधियाना आचार्यदेवके दर्शनके लिए

गया हुआ था और अपने एक मित्रके साथ भोजन कर रहा था। उसी समय एक सज्जन आए और कपड़ेमें बंधा हुआ एक पुलिन्दा मेरे हाथमें देते हुए बोले—"रामपुरियाजी, देखिए यह क्या चीज है। किसीको देनी थी। सतोंने राजलदेसरमें संभलाई थी, पर मै नाम ही भूल गया! हिफाजतसे रख छोड़ी है पर किसको दूँ?" मैने बड़ी उत्सुकतासे भोजन करते-करते ही बण्डल खोली। मेरे आनन्दका ठिकाना न रहा। अपनी ही चीज उसमे पा उन सज्जनको धन्यवाद देते हुए बोला—"अब आपको और किसीकी खोज नहीं करनी होगी। ये कागजात मेरे ही हैं।" उस समय जीवनीवाला अश प्रेसमें दिया जा चुका था। कुछ फोर्म छप भी चुके थे। सोचा इस सग्रहका इस समय मिलना इस बातका संकेत है कि इसका उपयोग उसके उत्तरार्द्ध मे कर लेना चाहिए। इसी भावना से इस सग्रहको इस खण्डके द्वितीय भागके रूपमें जोड़ दिया गया है।

प्रवचनोंको चार विभागोंमें बांटा गया है। प्रथम विभाग—शिक्षापदमें—भगवान् महावीरकी सार्वभौम शिक्षाओंका संग्रह है, जो निर्विशेष रूपसे मानव-मात्रके लिए उपयोगी है—चाहे वह किसी जाति या धर्मका हो, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि हो। दूसरे विभाग—निर्ग्रंथपद—में उन शिक्षापदोंका समावेश किया गया है जिन पर महावीरके मुनियोंको चलना पड़ता था। इससे महावीरकी मुनि-जीवनकी कल्पना क्या थी और उनके मुनियोंको कैसा कठोर साधना-मय और अहिंसक जीवन व्यतीत करना पड़ता था इसका पता चल सकेगा। तीसरे विभाग—दर्शन-पदोंसे महावीरके वाद—उन्होंने जिस दर्शनधाराका प्रतिपादन किया, उसका सहज बोध हो सकेगा। अन्तिम विभाग—क्रांतिपदसे—भगवान् महावीरने अपने जमानेकी

बुराइयों और जड़ताओंके विरुद्ध जो तुमुल मोर्चा लिया, उसका सहज चित्र सामने आ जायगा।

विदेशी विद्वानोंका अनुसरणकर महावीरकी जन्मभूमि वैशाली मानी जाने लगी है पर लेखकका मत है कि वैशाली महावीरकी जन्मभूमि नहीं हो सकती। उनकी जन्मभूमि क्षत्रियकुण्ड ग्राम (पुर) था। इस विषयकी चर्चा जीवनीमें जन्मभूमि शीर्षकके अन्तर्गत आई है।

इस पुस्तकके लिखनेमें जिन-जिन विद्वानोंकी पुस्तकोंका सहारा लेना पड़ा है, उनके प्रति लेखककी हार्दिक कृतज्ञता है।

'जीवन-साहित्य'के सम्पादक सहृदय भाई यशपालजी जैनने मेरे अनुरोधको स्वीकारकर भूमिका लिखनेकी कृपा की, उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूं।

यह जीवनी महावीरका प्रामाणिक जीवन-परिचय देनेकी दृष्टिसे लिखी गई है। यदि यह प्रयास उस दिशामें थोड़ा भी सफल रहा, तो मैं अपनेको कृतकृत्य समझूंगा।

६५।३ पांचागली
कलकत्ता
ता० २८।४।५३

श्रीचन्द रामपुरिया

भूमिका

बंधुवर श्रीचन्दजी रामपुरियाने जब प्रस्तुत पुस्तककी भूमिका लिख देनेका आग्रह किया तो अत्यधिक व्यस्त होने और अपनी मर्यादाओंका जानते हुए भी मैं सहसा इन्कार न कर सका। इसका मुख्य कारण था अपने भारको हल्का करनेकी भावना। आजसे कुछ महीने पूर्व जब मैं श्री रामपुरियाजीसे मिला था तो उन्होंने इस पुस्तककी चर्चा करते हुए सहज भावसे पूछ लिया था कि भूमिका किससे लिखवाना ठीक होगा। मैंने उन्हें न केवल नाम ही सुझाया, अपितु भूमिका लिखवा देनेका आश्वासन भी दे दिया। मेरे इस आश्वासन पर रामपुरियाजी कई महीने तक छपी पुस्तक को केवल भूमिकाके लिए रोके रहे। लेकिन वचन देकर और चाहते हुए भी जब वह सज्जन अत्यधिक व्यस्तताके कारण भूमिका न भेज सके और कई महीने निकल गये तो मेरे हृदय पर बोझकी एक चट्टान-सी खड़ी हो गई। उसी बोझको हल्का करनेके लिए, भूमिकाके रूपमें इन पक्तियोंके लिखनेकी मांग होने पर, मेरे लिए बचनेका कोई अवसर न रहा। मुझे खेद है कि रामपुरियाजीको पुस्तक प्रकाशित करने और पाठकोंको उसे पानेके लिए इतनी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

भारत एक विशाल भू-खण्ड है। लगभग पैंतीस करोड़ लोग यहां बसते हैं। उनकी अनेक जातियां हैं, धर्म हैं और अलग-अलग विश्वास हैं। प्राचीनकालसे ही यह परम्परा चली आ रही है। जिस समय

आर्य लोग इस देशमें आये थे, उनकी संख्या अधिक न थी, लेकिन वे सब-के-सब किसी एक स्थान पर केन्द्रित न होकर भिन्न-भिन्न जनपदोंमें फैल गये। इस प्रकार विकेन्द्रित होकर उनकी अलग-अलग शाखाएं हो गईं और क्षेत्र एवं कालके अनुसार उनकी धार्मिक मान्यताओंमें भी अन्तर पड़ गया। वे एक ईश्वरके उपासक थे और प्रकृति की विभिन्न शक्तियोंमें ईश्वरके नाना रूपोंकी कल्पना करके देवी-देवताओंके रूपमें उनकी पूजा करते थे। देवी-देवताओंको प्रसन्न करने के लिए उन्होंने यज्ञकी परिपाटीको प्रोत्साहन दिया; परन्तु कालांतर में धर्म सबंधी उनकी मूल भावनामें भारी परिवर्त्तन हो गया। यज्ञ उनके लिए मोक्षके साधन बन गये और उनमें वे हजारों-लाखों निरीह पशुओंकी बलि देने लगे। वे समझने लगे कि पशुओंकी बलिसे देवी-देवता प्रसन्न हो जायगे और उनके लिए मोक्षका द्वार अनायास खुल जायगा। घोर हिंसाका प्रचार हो गया। पूजामें हिंसा आई तो जीवन के अन्य व्यवहारोंमें उससे कैसे बचा जा सकता था? इस प्रकार क्या पूजा-आराधनामें और क्या पारस्परिक व्यवहार और व्यवसाय में, हिंसाका बोलबाला हो गया।

अपनी सुविधाकी दृष्टिसे आर्योंने कार्य-विभाजन करके एक-एक वर्गको उसकी योग्यतानुसार काम सौंप दिया था। आगे चलकर वह वर्ग-विभाजन वर्णके रूपमें परिवर्तित हो गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये पृथक्-पृथक् चार वर्ण बन गये। उनमें ऊंच-नीचकी भावना उत्पन्न हो गई और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपनेको उच्च मानकर वैश्य और शूद्रोंको हेय दृष्टिसे देखने और तदनुसार उनके साथ आचरण करने लगे। सेवा-कार्य करनेवाले शूद्रों और दासोंका तो एक ऐसा वर्ग ही बन गया, जो न केवल नीचा ही समझा जाने लगा,

अपितु उसे सामान्य मानवीय अधिकारोंसे भी बंचित कर दिया गया। जो आर्य-जाति संगठित होकर इस भूमि पर आई थी, वह बिखर गई और आदमी-आदमीके बीच दुर्भेद्य दीवार खड़ी हो गई। अपने-अपने मताग्रहोंके कारण लोगोंके सिर फूटने लगे।

राजनैतिक क्षेत्रमें भी विषम स्थिति पैदा हो गई। भौतिक जय-पराजयमें लोग अपने पराक्रमकी चरम सीमा मानने लगे।

ऐसी भयावह स्थितिमें बिहारके ज्ञातृकगणके अधीनस्थ कुण्डलग्राम (कुण्डलपुर) के राजघरानेमें ईसासे ५९९ वर्ष पूर्व वर्द्धमान नामक एक बालक उत्पन्न हुआ। चैत्रका मास, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल त्रयोदशी का दिन और मध्य रात्रिकी वेला। पिता सिद्धार्थ और मां त्रिशला तो पुलकित हुए ही, सारा राज्य आनन्दित हो उठा। जबसे बालक मां के पेटमें आया था तभीसे कुलकी सुख-समृद्धि और मान-मर्यादामें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई थी। स्वभावत: बालकका नाम उसके गुणोंके अनुसार वर्द्धमान रक्खा गया।

वर्द्धमानका बचपन वैसे ही बीता जैसे अन्य बालकोंका बीता करता है। वह उदार थे और उनका शरीर बलिष्ठ और कांतिवान था। उन्हें सब प्यार करते थे।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है कि महावीरने विवाह नहीं किया और आजन्म ब्रह्मचारी रहे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि उन्होंने मां के विशेष आग्रह पर यशोदा नामकी लड़कीसे विवाह किया और उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। जो हो, बचपनसे ही उनमें वैराग्यका बीज विद्यमान था और वह धीरे-धीरे उनकी मानस-भूमिमें जमता जा रहा था। ३० वर्षकी आयु तक वर्द्धमान घरमें रहे; लेकिन अनासक्त रहकर। घरके किसी काम-काज अथवा राज-पाटमें उन्हें

रस न था। वैराग्यका बीज जो पनप रहा था। जब वह विकसित हुआ तब ३० वर्षकी भरी जवानी, भरा-पूरा घर-बार, विस्तृत राजपाट, कुछ भी उन्हें न रोक सका। सबको लात मार कर वह तपश्चर्या करने घरसे निकल पड़े। उन्होंने प्रतिज्ञा की :

"सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं"

अर्थात्—"आजसे मैं कोई पाप नहीं करूंगा।" इतना ही नहीं, उन्होंने पंचमहाव्रतके पूर्ण पालनकी भी प्रतिज्ञा की।

आश्चर्य होता है कि उन्होंने ऐसे कठोर मार्गको कैसे चुना ! आज के युगका बुद्धिवादी यह भी कह सकता है कि उस सबकी आवश्यकता ही क्या थी। भगवानने उन्हें साधन दिये थे तो वे उनका उपयोग करते और उनके द्वारा दूसरोंका कष्ट-निवारण करते; लेकिन वह वर्द्धमान का मार्ग नहीं था।

घरसे बाहर निकलनेके बादके उनके बारह वर्षोंका जीवन इतना कठोर और रोमांचकारी है कि पढकर हृदय कांप उटता है। न कोई शिष्य, न उपासक, मौन आत्मशोधनमें लीन, उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्यागके कठोर नियमोंका पालन, शारीरिक अनासक्ति, वन्य जंतुओंका उपद्रव, लोगोंका उत्पात, कभी खुलेमें तो कभी पेड़की छांहमें, कभी श्मशानमें तो कभी सूने घरमें उनका पड़ा रहना, खान-पानका अद्भुत संयम, नींद पर विजय, आदि-आदि बातोंके बड़े ही विशद और रोचक वर्णन मिलते हैं। काया सूख गई, वस्त्र जीर्ण होकर नष्ट हो गया। उनकी वह दुर्द्धर्ष तपश्चर्या महीने दो महीने अथवा साल दो साल नहीं, बारह वर्ष तक निरन्तर चली। अनेक उपसर्ग हुए, अनेक प्रलोभन आये; परन्तु वर्द्धमानकी तपस्याको कोई खण्डित न कर सका। अपनी इस निष्ठायुक्त साधना,

असामान्य धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता एवं आत्म-संयमके कारण ही वह वर्द्धमानसे महावीर बने ।

तेरहवें वर्षमें उनकी तपश्चर्या पूर्ण हुई और वह 'केवली' पदको प्राप्त हुए । संसारके सुख-दुःख, मोह-माया, राग-द्वेष आदिसे वह ऊपर उठ गये । तीर्थका अर्थ होता है, जिसके द्वारा तिरा जा सके और चूंकि महावीरने अपनी वाणी द्वारा भवसागरको पार करनेका मार्ग प्रशस्त किया, इसलिए वह तीर्थंकर कहलाये ।

केवली पद प्राप्त कर लेनेके बाद उन्होंने धर्मोपदेश देना आरम्भ किया । उनके अनुयायियोंमें स्त्री-पुरुष सब थे । जो पूर्ण व्रती थे वे 'श्रमण' और जो स्थूल व्रती थे वे उपासक व श्रावक कहलाये । श्रमण, श्रमणी, उपासक, उपासिका—यह चतुर्विध अनुयायी-समुदाय संघ कहलाया । भगवान महावीरकी दृष्टि सम्पूर्णतः आध्यात्मिक थी । आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म-विजय करनेका अभिलाषी कोई भी व्यक्ति सामर्थ्यानुसार व्रत ग्रहण कर संघका अंगी हो सकता था । संघकी नींव ८ तत्त्वों पर आधारित थी :—(१) आत्म-जय, (२) अहिंसा, (३) व्रत, (४) विनय, (५) शील, (६) मैत्री, (७) समभाव और (८) प्रमोद । जो पूर्ण व्रती थे वे किसी भी सवारीका उपयोग नहीं कर सकते थे, वे पैदल चलते थे । पैरोंमें जूते नहीं पहन सकते थे और न खाट आदि आरामके उपकरण ही काममें ला सकते थे । सादा और स्वावलम्बी जीवनका उनके लिए विधान था । वे वाणिज्य-व्यापार भी नहीं कर सकते थे और अपना जीवन-यापन उन्हें भिक्षा मांग कर करना पड़ता था ।

महावीर ७२ वर्षकी आयु तक जीवित रहे । अनन्तर राजगृहमें शरीर त्याग मोक्षको प्राप्त हुए ।

अपने उपदेशोंमें महावीरने सभी विषयोंका समावेश किया। वह जानते थे कि जीवनकी छोटी-से-छोटी बात भी महत्त्वपूर्ण होती है और तनिक-सी असावधानी बड़ी-से-बड़ी साधनाको विकृत कर सकती है। अतः उन्होंने गृहस्थोंके लिए नियमादिक बनाये तो साधु, भिक्षु आदिको भी बंधनमुक्त नहीं छोड़ा। वह यह भी जानते थे कि सबके लिए समान नियम नहीं बनाये जा सकते, कारण सबकी अपनी-अपनी सीमाएं होती हैं। अतः साधुके लिए जहां उन्होंने पंचमहाव्रतोंके सूक्ष्म पालनकी शर्त्त रक्खी, वहां गृहस्थोंको उपदेश दिया कि यदि वे अहिंसा आदि व्रतोंका उनके सूक्ष्म रूपमें पालन नहीं कर सकते तो कम-से-कम स्थूल रूपसे तो उन पर चलें।

महावीर चाहते तो अपने प्रवचन पांडित्यपूर्ण भाषामें दे सकते थे; लेकिन इससे उनका संदेश पण्डित-वर्ग तक ही सीमित रह जाता। इसलिए उन्होंने लोक-भाषाको अपनाया और अपनी शिक्षाएं इतनी सरल और बोधगम्य भाषा और शैलीमें दीं कि सामान्य व्यक्ति भी उन्हें बिना कठिनाईके समझ सकता था। उनके विचार बहुत स्पष्ट थे। कहीं भी उनमें उलझन न थी। इसीसे उनका संदेश व्यापक रूप से फैला। फिर एक बात यह भी थी कि उन्होंने अपने उपदेश किसी वर्ग-विशेषके लिए नहीं दिये, बल्कि बिना जाति-पांतिके भेद-भावके सबको उनसे लाभ पहुंचे, यह दृष्टि रक्खी। जिस प्रकार उनके संघका द्वार सबके लिए समान रूपसे खुला था, उसी प्रकार उनके उपदेश भी सबके लिए कल्याणप्रद थे।

प्रस्तुत पुस्तकमें बड़े परिश्रम और अध्ययनके बाद बन्धुवर राम-पुरियाजीने भगवान् महावीरके जीवन-चरितकी सामग्री तथा उनके चुने हुए प्रवचन दिये हैं। जीवन-चरित सम्बन्धी सामग्रीको उन्होंने

चार भागोंमें विभक्त किया है (१) गृहस्थ-जीवन, (२) साधक जीवन, (३) तीर्थंकर-जीवन और (४) परिनिर्वाण। महावीरका समूचा जीवन इतना घटनापूर्ण है कि सारी उपलब्ध सामग्रीको एक पुस्तकमें देना एक प्रकारसे असम्भव है। अत: लेखकने बड़ी कुशलता से मुख्य-मुख्य घटनाएं देकर शेषके लिए पुस्तकों आदिके सन्दर्भ पाद-पाठोंमें दे दिये हैं। उन सन्दर्भोंके कारण अधिक जानकारी पाने की जिज्ञासा रखनेवाले पाठकोंको पुस्तकोंके ढूंढ़नेमें कठिनाई नहीं होगी।

पुस्तकका सबसे मूल्यवान भाग महावीरके प्रवचन हैं, जिन्हें चार भागोंमें बांटा गया है (१) शिक्षा-पद, (२) निर्ग्रन्थ-पद, (३) दर्शन-पद और (४) क्रान्ति-पद। प्रवचनोंका प्रत्येक विभाग अमूल्य रत्नोंसे भरा पड़ा है। पहले मूल भाषामें एक-एक पद दिया गया है। साथ ही सुबोध भाषामें उसका अर्थ। अर्थको सरल बनानेकी चेष्टा की गई है और जहां पारिभाषिक शब्दोंका रखना अनिवार्य हो गया है, वहां उनकी व्याख्या कर दी गई है। अर्थ करनेमें मूलके निकट रहनेका प्रयत्न भी स्पष्ट दीख पड़ता है।

लगभग २५०० वर्ष बाद भी महावीरका संदेश कितना ताजा और कितना स्फूर्तिदायक है, इसके कुछ नमूने देखिये। प्रमादके विरुद्ध चेतावनी देते हुए वह कहते हैं :

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए॥

—जैसे वृक्षके पत्ते पीले पड़ते हुए समय आने पर पृथ्वी पर झड़ जाते हैं, उसी तरह जीवन भी (आयु शेष हो जाने पर समाप्त हो जाता है)। हे जीव, क्षण भरके लिए भी प्रमाद न कर। (पृ० १०१)

एक छोटे-से पदमें उन्होंने जीवनका कितना बड़ा सत्य भर दिय
है :

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं

—उसने दुःखका नाश कर दिया, जिसके मोह नहीं होता। उसक मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नहीं होती। उसकी तृष्णा नष्ट ह गई, जिसके लोभ नहीं होता। उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिंच है। (पृष्ठ १२४)

वैरके दूषित परिणामके संबंधमें उनका विश्लेषण देखिये :

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥

—वैरी वैर करता है और फिर दूसरोंके वैरका भागी होता है इस तरह वैरसे वैर आगे बढ़ता जाता है। पापोत्पन्न करनेवा आरम्भ अंतमें दुःखकारक होते हैं। (पृ० १४४)

कितनी सुन्दर उपमा देकर उन्होंने अधर्मके भयंकर चक्रसे बचनेक चेतावनी दी है :

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

—जिस तरह कोई जानकार गाड़ीवान समतल विशाल मार्गक छोड़कर विषम मार्गमें पड़ जाता है और गाड़ीकी धुरी टूट जाने सोच करता है, उसी तरह धर्मको छोड़कर अधर्ममें पड़नेवाला मू मृत्युके मुंहमें पड़ा हुआ जीवनकी धुरी टूट जानेकी तरह शोक कर

है। (पृष्ठ १५६)

क्रोध, मान, माया और लोभसे मनुष्य किस प्रकार उत्तरोत्तर नीचे गिरता जाता है, इस सम्बन्धमें महावीरकी व्याख्या देखिये :

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
मायागईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥

—क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है, मानसे अधोगति पाता है, माया से सद्गतिका रास्ता रुकता है और लोभसे इहभव और परभव दोनो बिगड़ते हैं। (पृष्ठ १७६)

आजके युगकी सबसे बड़ी बुराई यह है कि अधिकांश लोग स्पष्ट भाषाका प्रयोग नहीं करते। असत्य भाषण भी प्राय: कर जाते हैं। भगवान् महावीरकी भाषाके विषयमें सावधानता देखिये :

तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुतप्पई।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियण्ठिया॥

—भाषा चार प्रकारकी होती है। उनमें झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है। विवेकी पुरुष ऐसी मिश्र भाषा न बोले। न वैसी भाषा बोले, जिससे बादमें पश्चाताप करना पड़े। न प्रच्छन्न बात कहे। यही निर्ग्रंथ ऋषियोंकी आज्ञा है। (पृष्ठ १७९)

जीवनकी क्षणभंगुरताके विषय में :

जहेह सीहो व मियंगहाय, मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवंति॥

—निश्चय ही अंतकालमें मृत्यु मनुष्यको वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, जैसे सिंह मृगको। अन्तकालके समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार नहीं होते। (पृष्ठ १८७)

भोगोंकी निस्सारताके बारेमें उन्होंने कितने सुन्दर ढंगसे अपनी

बात कही है :

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

—काल बीता जा रहा है। रात्रियां भागी जा रही है। मनुष्यों के ये काम-भोग नित्य नहीं हैं। जैसे पक्षी क्षीण फलवाले द्रुमको छोड़ कर चले जाते हैं, उसी तरह काम-भोग क्षीणभागी पुरुषको छोड़ देते है। (पृष्ठ १९१)

दुनियाके सम्बन्धोंके विषयमे उनका सदेश आज भी कितना ताजा है :

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

—स्त्री और पुत्र, मित्र और बान्धव जीवनकालमें ही पीछे-पीछे चलते हैं, मरनेके बाद वे साथ नहीं देते। (पृष्ठ २००)

नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परम दुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥

—जैसे अत्यन्त दुःखी पुत्र मृत पिताको घरके बाहर निकाल देते हैं, वैसे ही माता-पिता भी मरे पुत्रको बाहर निकाल देते हैं। सगे-सम्बन्धियोंके विषयमें भी यही बात है। हे राजन् ! यह देखकर तू तप कर। (पृष्ठ २००)

आसक्त और अनासक्त व्यक्तियोंकी मनोभावनाओंका निरूपण उन्होंने कितनी सरल उपमा देकर किया है :

उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए॥

—जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टीके गोलोंको फेंकने पर उनमेसे गीला ही दीवारसे चिपकता है और सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो काम-लालसामें आसक्त और दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य होते है, उन्हींको संसारका बन्धन होता है, पर जो काम-भोगोंसे विरत होते हैं, उनके ऐसा नहीं होता। (पृष्ठ २११)

अधिकांश व्यक्ति सदाचारी जीवनके राजमार्गको छोड़कर बुराई के मार्ग पर चल पड़ते हैं। उन्हें चेतावनी देते हुए वे कहते हैं :

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा॥

—हे पुरुष! पाप कर्मोंसे निवृत्त हो। यह मनुष्य-जीवन शीघ्रतासे दौड़ा जा रहा है। जो लाभ लेना हो, वह ले ले। भोग-रूपी कादे (दलदल) में फंसा हुआ और काम-भोगोंमे मूर्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेकको खो कर मोहग्रस्त होता है। (पृष्ठ २१६)

मानवके लिए सबसे महत्वकी बात अपनी आत्मा पर विजय पाना है। वही सबसे कठिन काम भी है। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं :

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ जुद्धारिहं
खलु दुल्लभं।

—हे प्राणी, अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करनेसे क्या मतलब? दुष्ट आत्माके समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है। (पृष्ठ २१७)

नीचेके पदोंमें उन्होंने सत्य-भाषणका कितना सूक्ष्म विवेचन किया है :

सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं।
जं णेव सच्चं णेव मोसं, असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥

—भाषा चार प्रकारकी होती है—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) सत्यासत्य और (४) न सत्य-न-असत्य ।

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

—प्रज्ञावान उपरोक्त चार भाषाओंको अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओसे व्यवहार करना सीखे और एकांत मिथ्या या सत्यासत्य इन दो भाषाओंको कभी न बोले। (पृष्ठ २३१)

सामान्य उपमा देकर बड़ी-से-बड़ी बात समझा देनेमें तो महावीर को कमाल हासिल था। धनके मोहमें फसे लोगोंके विषयमें उन्होंने कितने तथ्यकी बात कितने सरल ढगसे समझा दी है :

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंत मोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

—प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें। हाथमें दीपक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामनेका मार्ग नहीं दिखाई देता, उसी तरहसे धनके असीम मोहसे मूढ़ मनुष्य न्याय-मार्गको देखता हुआ भी नहीं देख सकता। (पृष्ठ २५३)

साधु पुरुषोंके लिए उन्होंने कितने पतेकी बात कही है :

बहुं सुणेइ कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छई।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिइह॥

—साधु कानोंसे बहुत बातें सुनता है, आंखोंसे बहुत बातें देखता है; परन्तु देखी हुई, सुनी हुई सारी बातें किसीसे कहना साधुको उचित नहीं है। (पृष्ठ ३१२)

साधु-असाधुकी उनकी परिभाषा पर ध्यान दीजिये :

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

—गुणोंसे साधु होता है और अगुणोंसे असाधु। सद्गुणोंको ग्रहण करो और दुर्गुणोंको छोड़ो। जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्माको जानकर राग और द्वेषमें समभाव रखता है, वह पूज्य है। (पृष्ठ ३३४)

भगवान वास्तवमें क्रान्तिकारी थे। सच बात निर्भीकतापूर्वक कहनेसे कभी नहीं चूकते थे :

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

—सिर मुड़ा लेने मात्रसे कोई 'श्रमण' नहीं होता, 'ओम्' के उच्चारण मात्रसे कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने मात्रसे कोई मुनि नहीं होता और न वल्कल चीर-धारण मात्रसे कोई तापस (तपस्वी) होता है। (पृष्ठ ४४४)

उनकी दृष्टिसे ब्राह्मणके रूपकी कल्पना कीजिये :

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचयमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं॥

—जो तपस्वी है, कृश है, जितेन्द्रिय है, तप साधनासे जिसने

रक्त-मांस सूखा दिया है, जो सुव्रती है और जिसने क्रोध, मान, माया और लोभसे मुक्ति पा ली है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

समूची पुस्तक ऐसे ही अमृत-वचनोंसे परिपूर्ण है। महापुरुष दृष्टा होते हैं और वे ऐसे सनातन सत्योंका प्रतिपादन करते हैं, जो कभी बासी नहीं होते। उनके वचन प्रत्येक युगमें स्फूर्ति और प्रेरणा देनेवाले होते हैं। भगवान महावीरके उपदेशोंसे ऐसा लगता है, मानों आज ही कोई महापुरुष अपनी बात कह रहा हो। पाठक यह भी देखेंगे कि उनकी भाषा कितनी सरल थी। यद्यपि आज उस भाषाका प्रचलन नहीं है, तथापि थोड़ा-सा ध्यान देने पर वह भाषा आज भी आसानीसे समझमें आ जाती है। प्रस्तुत पुस्तकके लेखकने मूल पदोंका अनुवाद भी वैसे ही सरल ढंगसे करके 'सोनेमें सुहागे' की कहावत चरितार्थ की है।

हिन्दीमें भगवान महावीरके छोटे-बड़े कई जीवन-चरित निकले हैं और उनके उपदेशोंके कुछ संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। अर्द्धमागधीके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बेचरदासजी दोशीका संग्रह 'महावीर-वाणी' तो बहुत ही सुन्दर और उपादेय है। 'तीर्थंकर महावीर' का प्रकाशन उसी दिशामें एक अभिनन्दनीय प्रयास है। पुस्तककी सबसे बड़ी खूबी यह है कि लेखकने कहीं भी अपना मत पाठकों पर लादनेका प्रयत्न नहीं किया।

पुस्तककी प्रामाणिकता, विशेषकर प्रवचनोंके पदोंके अनुवादके विषयमें तो मूल भाषाके विज्ञ लोग ही राय दे सकेंगे; लेकिन इतना हम अवश्य कहेंगे कि अनुवादकी भाषा हमें बहुत सरल, सुबोध और प्रवाहयुक्त प्रतीत हुई है।

पुस्तककी एक और विशेषता उसकी सामग्रीके वर्गीकरणमें है।

महावीरके जीवनके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे पहले भागकी सामग्री इस प्रकार दी गई है कि गर्भसे लेकर मोक्ष तककी पूरी झांकी पाठकों को मिल जाती है। इसी तरह प्रवचनोंका भी उन्होंने इस ढगसे क्रम और विभाजन किया है कि कोई भी आवश्यक विषय नहीं छूटने पाया है।

लेखककी योजना विशद् है। इस मालामे वह कई पुस्तकें निकालनेके अभिलाषी है। पहला खण्ड तो पाठकोंके सामने है ही। दूसरे खण्डमें वह महावीर के जीवन-प्रसग रोचक और सजीव ढंगसे देना चाहते हैं। तीसरे खण्डमें महावीर, बुद्ध और गांधीका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना चाहते है। बुद्ध और महावीर तो समकालीन थे और जिस प्रकार महावीरने लोक-जीवनके आध्यात्मिक स्तरको ऊंचा उठानेका प्रयत्न किया, उसी प्रकार बुद्धने भी अपने ढगसे उस दिशामें महान् कार्य किया। गांधीजी यद्यपि उस युगके नही है तथापि उन्होंने अपने जीवनकालमे जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया वे उसी युगकी एक अटूट कड़ी है। मानवकी पावनताके साथ-साथ गांधीजीने राजनीतिमें भी धर्म-नीतिका प्रवेश करानेका जो भगीरथ प्रयत्न किया, वह उनकी भारतको ही नहीं, समूचे विश्वको एक महान् देन है। इसमें वह महावीरसे भी एक कदम आगे बढ़ गये दिखाई देते है। उनकी सप्त महाव्रतोंकी व्याख्या भी गजबकी चीज है।

निश्चय ही यह हम सबका परम सौभाग्य है कि इस धरा पर महावीरका अवतरण हुआ। महापुरुष सहस्रों वर्षोंमे एक बार पैदा होते हैं; लेकिन जब पैदा होते है तो ससारको धन्य कर जाते है। भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे। अपनी कठोर तपश्चर्या और महान् व्यक्तित्वसे उन्होंने विश्वके समक्ष एक ऐसा कल्याणकारी मार्ग

प्रशस्त कर दिया, जिस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति अपना हित कर सकता है। वह किसी एक समाज या दलके नहीं थे, इसलिए सारी दुनिया उनकी और वे सबके थे। जीवनके जिन सनातन सत्यों का उन्होंने निरूपण किया, वे मानवताके लिए सदा दीप-स्तंभका काम करेंगे।

आज भगवान महावीरके सिद्धान्तोंके मूल तत्त्वोंको बहुत कुछ अंशोंमें भुला दिया गया है। इतना ही नहीं, आजका युग उन सिद्धांतों को भारी चुनौती दे रहा है। लगता है, जैसे आजकी भौतिकता, मानवता और आध्यात्मिकताको लील जायगी। ऐसी अवस्थामें भगवान महावीरके सिद्धान्तोंको निःस्वार्थ भावसे जनसाधारणमें प्रसारित करनेकी दृष्टिसे उठाया गया यह कदम न केवल सामयिक है, अपितु स्तुत्य भी। लेखक इसके लिए हम सबकी बधाईके पात्र हैं। इसके विवरणोंमें थोड़े मतभेदकी गुंजाइश हो सकती है; लेकिन फिर भी इस पुस्तकका प्रकाशन एक सराहनीय प्रयत्न है। आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता लोगोंमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न करनेकी है। उन्हें बताना है कि जीवनके सही मूल्य क्या हैं और किन तत्त्वों पर चल कर जीवन सार्थक और कृतार्थ बन सकता है। इसके लिए बिना किसी भेद-भाव के उन महापुरुषोंके सिद्धान्तों और विचारोंका सीधी-सादी भाषामें व्यापक प्रसार करना अपेक्षित है, जिन्होंने 'प्रेय' से अधिक 'श्रेय' पर जोर दिया और जिन्होंने अपने आचरणसे सिद्ध कर दिया कि आत्मिक बलका मुकाबिला संसारकी कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। ऐसे महापुरुष हमेशा जीवित रहेंगे और उनके महान् वचन भूली-भटकी मानव-जातिका मार्ग-दर्शन करेंगे। इन वचनोंको समझनेके साथ-साथ मुख्य बात निष्ठा-पूर्वक उनके अनुसार आचरण करनेकी है। वाणीके

पीछे यदि कर्मका बल न हो तो वह विशेष लाभदायक नहीं होती। जीवन पूर्ण तभी बनता है जब मनुष्यकी कथनी और करनीमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। एक महापुरुषके कथनानुसार यदि विचारों के अनुरूप कार्य न हो तो वह गर्भपात करनेके समान है।

हम चाहते हैं कि पाठक इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें, इसके विचारोंका मनन करें और तदनुसार अपना जीवन ढालनेका प्रयत्न करें। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो इसमें जितना गहरा जायगा, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ेंगे।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तकका सर्वत्र स्वागत होगा और सर्व-साधारण, विशेषकर आत्मार्थियोंको इससे बड़ा लाभ पहुचेगा।

७।८, दरियागंज, दिल्ली। —यशपाल जैन

१२ फरवरी १९५३

विषय-सूची

प्रस्तावना	१
भूमिका	क
१—जीवन चरित	पृष्ठ १-९८
२—प्रवचन	पृष्ठ ९९-४६८

संकेत-सूत्री

आ०	=	आचारांग सूत्र
उ०	=	उत्तराध्ययन सूत्र
उत्त०	=	उत्तराध्ययन सूत्र
उव०	=	उववाइय (औपपातिक) सूत्र
द०	=	दसवैकालिक सूत्र
द० चू०	=	दसवैकालिक चूलिका
द० श्रु०	=	दसाश्रुत-स्कध सूत्र
प्रश्न०	=	प्रश्नव्याकरण सूत्र
सू०	=	सूत्रकृतांग सूत्र
ज्ञा०	=	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र

१ : जीवन-चरित

१—गृहस्थ-जीवन : पृष्ठ १—२६

(१) जन्म-काल पृष्ठ १—(२) जन्मभूमि पृ० ५—(३) माता-पिता पृ० ११—(४) जन्म-नाम पृ० १३—(५) गोत्र, जाति और वंश-परिचय पृ० १४—(६) यौवन और विवाह पृ० १८—(७) वैराग्य और प्रवज्या पृ० २०—(८) अभिनिष्क्रमण पृ० २३—(९) अभिग्रह पृष्ठ २६

२—साधक-जीवन : पृ० २७—४२

(१) १२ वर्षका तपस्वी-जीवन पृष्ठ २९—(२) वर्द्धमानसे महावीर पृ० ३७—(३) साधनाकालके अनुभव और अंतिम सिद्धि पृ० ३९—(४) केवलज्ञान-केवलदर्शन पृ० ४१

३—तीर्थङ्कर-जीवन : पृ० ४३—८८

(१) गणधरवाद पृष्ठ ४५—(२) प्रथम धर्मोपदेश पृ० ५० (३) संघ स्थापना पृ० ५१—(४) अनुशासन और व्यवस्था पृ० ५२—(५) पार्श्वनाथके श्रमण और एकीकरण पृ० ६० (६) संघका विस्तार पृ० ७६—(७) प्रथम संघ-विच्छेदक जमालि पृ० ७६—(८) प्रतिस्पर्द्धी गोशालक पृ० ८०

४—परिनिर्वाण : पृ० ८९—९८

(१) भगवानका जीवन-काल पृष्ठ ९१—(२) निर्वाणभूमि और निर्वाण पृ० ९३ (३)—गोतमको केवल ज्ञान पृ० ९४—(४) श्रद्धाञ्जलियां पृ० ९७

२ : प्रवचन

१—शिक्षापद : पृष्ठ ९९—२५७

१—समयं गोयम ! मा पमायए १०१

२—दुर्लभ संयोग १०५

३—आत्म-जय: परम जय १०८

४—रहस्य-भेद ११२

५—अठारह पाप ११७

६—कामी पुरुषसे १२१

७—परम्परा १२४

८—ज्ञान और क्रिया १२६

९—सच्चा संग्राम १२८

१०—यज्ञ १२९

११—तीर्थ-स्नान १३०

१२—विषय गृद्धि और विनाश १३१

१३—तृष्णा और दुःख १३६

१४—वीतराग कौन ? १३८

१५—विषय और विकार १४०

१६—बाल वीर्य: पण्डित वीर्य १४३

१७—बाल मरण: पण्डित मरण १४८

१८—दृष्टान्त १५३

१९—सम्यक्त्व पराक्रम १६२

२०—विकीर्ण सुभाषित १७४

२१—भावना पृष्ठ—१८४
२२—आत्मा २१७
२३—अहिंसा २१९
२४—बोलीका विवेक २३०
२५—अस्तेय २३४
२६—ब्रह्मचर्य २३६
२७—अपरिग्रह २५३
२—निर्ग्रन्थ पद : पृ० २५६—२८०
१—वैराग्य और प्रव्रज्या २६१
२— छः महाव्रत २६८
३—आठ प्रवचन माताएं २७४
४—अखण्ड नियम २८२
५—अनगार २९३
६—विनय-समाधि २९५
७—भिक्षा और भोजनके नियम ३०३
८—गली गर्दभ ३१७
९—समभाव ३२०
१०—मुनि और परिषह ३२२
११—स्नेह-पाश ३२८
१२—स भिक्षुः स पूज्यः ३३२
१३—मार्ग ३३६
१४—निस्पृहता ३४०
१५—अनुस्रोत ३४३
१६—अप्रमाद ३४६

१७—मुनि और चित्त-समाधि ३४८
१८—निर्ग्रन्थ ३५१
१९—कौन संसार-भ्रमण नही करता ? ३५३
२०—विनयी बनाम अविनयी ३५५
२१—साधु-धर्म ३५७
२२—समाधि ३६०
२३—निर्वाण-मार्ग ३६३
२४—जीवन-सूत्र ३६६
२५—ब्रह्मचर्य और मुनि ३७३
२६—अपरिग्रह और मुनि ३७७
२७—महा शील ३८०
२८—तितिक्षा ३८३
३—दर्शन-पद : ३९१—४३८
१—सम्यक्त्व-सार ३९३
२—लोक और द्रव्य ३९६
३—अजीव ३९८
४—सिद्ध जीव ४०१
५—संसारी जीव ४०४
६—कर्मवाद ४१०
७—मोक्ष-मार्ग ४१७
८—सिद्धि क्रम ४२२
९—अज्ञान क्षय-क्रम ४२६
१०—सिद्ध और उनके सुख ४३०
११—दुर्लभ सुलभ ४३३
१२—दिग्मूढ़ ४३५

४—क्रांति-पद पृष्ठ ४३६-४७०

१—अनाथ ४४१

२—ब्राह्मण कौन ? ४४४

३—कुशील ४४८

४—वस्त्र और मार्ग ४५०

५—पापी श्रमण ४५१

६—परमार्थ ४५३

७—मद ४५५

८—सच्चा तप ४५९

९—पात्र कौन ? ४६२

१०—बाह्य शुद्धि ४६३

११—तुष ४६८

तीर्थंकर वर्द्धमान

भाग १

जीवन-चरित

१ : गृहस्थ जीवन

१ : जन्मकाल

अनन्त काल-प्रवाह बीत चुका। न उसके सिरेका पता है औ न उसके छोरका। वह बहता ही चला जा रहा है और बहता ह रहेगा। इस अनन्त काल-प्रवाहके वर्तमान कालचक्रमें ही तीर्थक वर्द्धमानका जन्म हुआ था।

एक घड़ीकी ओर आंख उठाकर देखिये—एक कालचक्र क्या है यह सहज ही समझ सकेंगे। घड़ीको उलटाकर देखिये, उसके १२ क अङ्क नीचेकी ओर और ६ का अङ्क ऊपरकी ओर रखिये। १२ वे अङ्कसे लेकर ६ के अङ्क तक घड़ीका आधा चक्र होगा और ६ के अङ्क १२ के अङ्क तक बाकी आधा चक्र। दोनों मिलाकर घड़ीका एक पूर चक्र होगा। इसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—ऐसे दो—कालभा मिलकर एक कालचक्र पूरा करते हैं।

उलटाई हुई घड़ीकी कोई भी सुई १२ के अङ्कसे क्रमश: ऊर्ध्वगति करती हुई—ऊपरकी ओर चढ़ती हुई—६ के अङ्कपर सीधी ऊर्ध्व ह जायगी और ६ के अङ्कसे पुनः नीचेकी ओर उतरती हुई क्रमशः १२ वे अङ्कपर पहुंचकर सीधी अधोमुखी हो जायगी। ठीक उसी तरह

कालचक्रका उत्सर्पिणी भाग[1] उत्तरोत्तर उत्थान और अवसर्पिणी भाग[2] क्रमशः अवनतिका समय होता है तथा उत्क्रान्ति करता कालचक्रका आधा उत्सर्पिणी भाग जहां शेष होता है, वहींसे अधोगति करता काल-चक्रका दूसरा अवसर्पिणी भाग आरम्भ हो जाता है।

जिस तरह १२ के अङ्कसे ६ के अङ्क तक घड़ीके चक्रके ६ विभाग होते हैं और फिर ६ के अङ्कसे १२ के अङ्क तक ६ विभाग, उसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—प्रत्येक—कालभागके भी ६ विभाग होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषामें 'आरा' कहा जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि घड़ीके चक्रके बारह ही भाग बराबर होते हैं, जबकि काल-भागोंमेंसे प्रत्येकके केवल दो ही 'आरे' समान अवधिके होते हैं और परस्पर एक दूसरेके समान नामवाले आरे ही बराबर होते हैं।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनों—कालभागोंके आरोंके नाम इस प्रकार हैं:—(१) दुषमा-दुषमा; (२) दुषमा; (३) दुषमा-सुषमा; (४) सुषमा-दुषमा; (५) सुषमा और (६) सुषम-सुषमा। उत्सर्पिणी

१—पूछकी ओरसे मुंहकी ओर जिस तरह सर्पकी मोटाई उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है, उसी तरह जीवोंके संहनन, संस्थान, आयु, अवगाहना, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम, पुद्गलोंके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा अन्य भाव एवं विषयोंमें, जो क्रमशः उन्नति और वृद्धिका काल हो, वह उत्सर्पिणी कालभाग।

२—मुंहकी ओरसे पूछकी ओर जिस तरह सर्पकी मोटाई क्रमशः ह्रासको प्राप्त होती जाती है, उसी तरह टिप्पणी नं० १ में उक्त विषयोंमें जो क्रमशः अवनति—ह्रास—का समय हो, वह अवसर्पिणी कालभाग।

कालभागके ६ आरोंका क्रम उपर्युक्त रूपसे ही है, परन्तु अवसर्पिणीके आरोंका क्रम ठीक उलटा है अर्थात् उसका पहला आरा सुषमा-सुषमा और इसी तरह अन्तिम आरा दुषमा-दुषमा होता है। उत्सर्पिणीका सुषमा-सुषमा नामवाला आरा अवसर्पिणीके सुषमा-सुषमा आरेके बराबर होता है और इसी तरह समान नामवाले अन्य आरे भी। उत्सर्पिणी कालमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए सुषमा-सुषमा आरेमें उच्चतम अवस्था आ जाती है और अवसर्पिणी कालमें क्रमशः ह्रास होते हुए दुषमा-दुषमा आरेमे हीनतम अवस्था आ जाती है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बने ऐसे अनन्तकाल चक्र[1] बीत चुके थे। वर्तमान कालचक्रका उत्सर्पिणी भाग बीत चुका था और अवसर्पिणी

१—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनों—कालभाग बराबर अवधिके होते है। अवसर्पिणी भागकी माप इस प्रकार है:

पहला आरा	:	४ × (१ करोड़ × १ करोड़)	सागर वर्ष
दूसरा आरा	:	३ × (१ करोड़ × १ करोड़)	"
तीसरा आरा	:	२ × (१ करोड़ × १ करोड़)	"
चौथा आरा	:	१ × (१ करोड़ × १ करोड़)	" कम ४२००० वर्ष
पांचवां आरा	:	२१०००	वर्ष
छठा आरा	:	२१०००	वर्ष
		१० × (१ करोड़ × १ करोड़)	सागर वर्ष

उपर्युक्त हिसाबसे एक कालचक्र २×१०×(१ करोड़×१ करोड़) सागर वर्ष अर्थात् २० क्रोड़ाक्रोड़ी सागर वर्षका होता है।

सागर वर्ष किसे कहते हैं, यह गणनासे नहीं बताया जा सकता। वह उपमासे ही समझा जा सकता है। इसलिए इसे औपमिक काल

भागके भी प्रथम तीन आरे बीत चुके थे। चौथे आरे—दुषमा-सुषमा—का भी अधिकांश भाग बीत चुका था और उसके अवशेष होनेमे केवल ७४ वर्ष ११ महीने ७॥ दिन बाकी थे[1]। वर्द्धमानका जन्म इसी समय हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि तीर्थङ्कर वर्द्धमानका जन्म हुआ उस समय प्रकर्षभावों—शुभभावों—के पतनकी हीनतम अवस्था नही पहुंची थी। दुषमा-सुषमाके बाद दुषम और दुषम-दुषम समय आता है और ये कालांश ही ह्रासकी उत्तरोत्तर चरम सीमाएं मानी गई हैं। महावीरका जन्म इन कालांशोंके पूर्व हुआ था।

कहा जाता है। इसे सूत्रमें पल्य (कूएं) और केशाग्रका उदाहरण देकर समझाया गया है।

एक योजन आयाम और विष्कंभक, एक योजन ऊंचाई और तीन योजन परिधिवाले एक पल्य—कूएंकी कल्पना कीजिये। उसे उत्कृष्ट भोगभूमिमें उत्पन्न १ से ७ दिनके जन्मे हुए बालकके केशोंके कोमल-कोमल अग्रभागोंसे ठसाठस भर दीजिये। सौ-सौ वर्ष बाद उसमेंसे केशका एक-एक अग्र भाग निकालिए। इस तरह निकालते-निकालते इस कूएंको सम्पूर्ण खाली करनेमें जितने वर्ष लगेंगे, उस अवधिको पल्योपम कहा जाता है। ऐसे कोटाकोटी पल्योपमको १० गुण करनेसे एक सागरोपम होता है—भगवती सूत्र (अमोलक ऋषि) श० ६ उ० ७ : ४, ५। योजनकी परिभाषा और विस्तारके लिए भी वही देखिये।

१—आचारांग सूत्र (रवजी भाईवाली आवृत्ति)—श्रु० २ अ० २४ : ९९१, ९९५;

कल्पसूत्र (अमृतलाल अमरचन्दवाली आवृत्ति)—२, ९६;

आजके शब्दोंमें कहें, तो तीर्थङ्कर वर्द्धमानका जन्म ईस्वी सन्से ५९९ वर्ष पूर्व हुआ था[1]। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्रका महीना था। शुक्ल त्रयोदशीका दिन था। मध्य-रात्रिकी वेला थी। हस्तुत्तरा—उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रका योग था। ऐसे ही समय त्रिशला क्षत्रियाणीने वर्द्धमानको क्षेम-कुशलपूर्वक जन्म दिया[2]।

२ : जन्मभूमि :

उस समय ब्राह्मणकुण्डग्राम (पुर) और क्षत्रियकुण्डग्राम (पुर)—ऐसे नगर होनेके उल्लेख जैनागमोंमें हैं। कहीं-कहीं इन्हें नगर न कह सन्निवेश भी कहा गया है[3]। पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि कुण्डग्राम

१—"जैनोंके अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामीके निर्वाणसे जो संवत् माना जाता है, उसको वीर-निर्वाण संवत् कहते हैं। ×× वास्तवमें विक्रम सं० से ४७० वर्ष पूर्व, शक संवत्से ६०५ वर्ष पूर्व और ईस्वी सन्से ५२७ वर्ष पूर्व भगवान् महावीरके निर्वाण-संवत्का प्रारम्भ मानना युक्ति-संगत है, जैसा कि प्राचीन जैन-आचार्योंने माना है।"—महामहोपाध्याय, रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, (अजमेर)—श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष २, अंक ४-५, पृ० २२७-२८।

महावीर ७२ वर्ष जिए। इस तरह उनका जन्म ई० सन्से ५९९ वर्ष पूर्व ठहरता है।

२—आचारांग सूत्र : (रवजी भाईवाली आवृत्ति) श्रु० २, अ० २४:९९५ कल्पसूत्र : ९६;

३—भगवती सूत्र : (अमोलक ऋषिवाली आवृत्ति) श०९ उ० ३३:१,२१ (देवानन्दा और जमालि-प्रकरण);

आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४:९९१, ९९३;

कल्पसूत्र : २; १५, २०, २१, २४, २६, २८, ३०, ६७, १००;

एक ही नगर था, जिसके दो विभाग थे। जिस विभागमें प्रधानत: ब्राह्मणोंकी वसति थी, उसे ब्राह्मणकुण्डग्राम और जिसमें प्रधानत: क्षत्रियोंकी वसति थी, उसे क्षत्रियकुण्डग्राम कहा जाता था[१]। पर आगमोंमें जो वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों नगर भिन्न-भिन्न थे। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि क्षत्रियकुण्डग्राम ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके पश्चिमकी ओर था[२]। ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके बाहर बहुशालक नामक चैत्य होनेका वर्णन है[३] और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके बाहर 'णायसंड'—ज्ञातृखंड नामक उद्यान या वन[४] होनेका। इससे भी दोनोंके अलग-अलग होनेका संकेत मिलता है। क्षत्रियकुण्डग्रामसे निकलकर जिस तरह ब्राह्मणकुण्डग्राममें जानेका वर्णन मिलता है[५], उससे अनुमान होता है कि दोनों नगरोंके बीच काफी दूरी होनी चाहिए। दोनों नगरोंके बाहर अलग-अलग उद्यानका होना उनके अलग-अलग अस्तित्वको ही सिद्ध नहीं करता, पर उनकी विशालता पर भी प्रकाश डालता है। क्षत्रियकुण्डग्राम नगरसे एक साथ ५०० क्षत्रियोंके प्रव्रजित

१—Uvasagadasao (Hoernle)—Lecture 1. $$ 3. Note 8 Page 3 to 6

२—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:२१

३—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:१, २२, २३, (देवानन्दा और जमालि-प्रकरण)

४—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४—१०१७;
कल्पसूत्र : ११५;
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २३१;

५—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:२१, २२, २५ (जमालि प्रकरण)

होनेका उल्लेख मिलता है[1], जो उसकी विशाल जनसंख्याका पर्याप्त सूचक है। उपर्युक्त प्रव्रज्याके अवसरपर क्षत्रियकुण्डग्रामको बाहर भीतरसे सजानेकी बात आई है[2]। नगरमें शृंगाटक, त्रिक, चौक आदि रास्ते थे[3]। इन सब परसे—क्षत्रियकुण्डग्राम एक विशाल नगर था, यह कहा जा सकता है और ब्राह्मणकुण्डग्राम भी उतना ही बड़ा रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। ये दोनों नगर जम्बूद्वीपके भारतवर्षके दक्षिणार्द्ध भारतमें अवस्थित कहे गये हैं[4]। तीर्थङ्कर वर्द्धमान ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके दक्षिण भागमें माताके गर्भमें आए और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके उत्तर भागमें उनका जन्म हुआ था[5]।

कुण्डग्राम नगरोंके आसपासके स्थानोंमें वाणिज्यग्राम नगर, वैशाली नगरी, कोल्लागसन्निवेश और कर्मार गांवोंके नाम उल्लेखनीय हैं। चौथी पौरुषीमें प्रव्रजित हो अपनी जन्मभूमिसे विहार कर वर्द्धमान उसी दिन मुहूर्त्त रहते कर्मार गांव पहुंचे थे[6]। इससे कर्मार और क्षत्रियकुंडग्राम नगरका समीप होना सिद्ध होता है। कर्मार गांवसे सूर्योदयके बाद रवाना होकर उसी सुबह कोल्लागसन्निवेशमें भगवान्ने पारणा किया[7]। इससे क्षत्रियकुंडग्राम नगर और कोल्लागसन्निवेशकी

१—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:७३ (जमालिप्रकरण)

२—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:४१

३—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:२२; कल्पसूत्र: १००;

४—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४:९९१;
कल्पसूत्र : २; १५; २०; २४; २८;

५—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ ९९१, ९९३

६—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४:१०१७, १०२१

७—आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३१९, ३२५,

सन्निकटता सिद्ध होती है। एक बार गौतम वाणिज्यग्राम नगरके बाहर उत्तर-पूर्व आए हुए दूइपलासय[1] चैत्यसे निकल वाणिज्यग्राम नगरमें भिक्षाके लिए आए। वापिस जाते समय वाणिज्यग्राम नगरसे निकल कोल्लागसंनिवेश होकर लौटे[2]। कोल्लागसंनिवेश वाणिज्यग्राम नगरके बाहर उत्तर-पूर्व दिशाकी ओर अवस्थित था[3]। इस तरह प्रमाणित होता है कि क्षत्रियकुडपुर और वाणिज्यग्राम—ये दोनों—नगर सन्निकट थे। वाणिज्यग्राम और वैशालीके बीच जलांतर था—गंडकी नदी पड़ती थी[4]। इस तरह वैशाली नगर भी सन्निकट ही था।

तीर्थंकर वर्द्धमानको जैनागमोंमें 'वेसालिए'—'वैशालिक' भी कहा गया है[5]। इसपरसे अनुमान लगाया गया है कि उनकी जन्मभूमि वैशाली ही थी[6]। कहा गया है कि "कुडग्राम और वाणिज्यग्राम वैशालीकी ही

१—विपाक सूत्र : अ० २:३

उपासकदशा सूत्र (अमोलक ऋषिवाली आवृत्ति) : अ० १ : ३;

२—उपासकदशा सूत्र : अ० १:७८-८०

३—उपासकदशा सूत्र : अ० १:७

४—विशेषावश्यक निर्युक्ति : गा० ४२९

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग ४ श्लोक १३९

५—सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० २ उ० ३:२२

उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : १७

भगवती सूत्र : श० २ उ० १ : ८; श० १२ उ० २ : १; यथा : "पिंगलेए णामं नियंठे वेसालिअसावए परिवसइ"

६—(१) सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० २ उ० ३ : २२ पर शीलांकाचार्यकी टीका।

अन्तर्भुक्त वस्तियां या स्थान थे और इच्छानुसार वैशालीको ही कुंड-ग्राम या वाणिज्यग्राम कहा जाता रहा। कुडग्राम और वाणिज्यग्राम वैशालीके ही दूसरे नाम थे। वैशालीमें तीन जिले (Districts) थे। वैशाली, कुंडपुर और वाणिज्यग्राम ही ये तीन जिले बताये जा सकते हैं। कुंडपुरके उत्तर-पूर्वमें कोल्लागसन्निवेश था। कोल्लाग-सन्निवेशसे संलग्न, पर उसके बाहर, ज्ञातक्षत्रियोंका दूइपलाश नामक धार्मिक प्रतिष्ठान—चैत्य—था। इसे उद्यान भी कहा गया है। यह ज्ञात-क्षत्रियोंका उद्यान था और इसीसे इसे नायसंड वन-उद्यान या नायसंड उद्यान कहा गया है[१]। कोल्लागसन्निवेशमें ज्ञातक्षत्रियोंकी पोषधशाला होनेका उल्लेख मिलता है—"कोल्लागसन्निवेसे नायकुलंसि पोसहसाला" (उवासगदसा—अ० १ : ६७) और चूंकि वर्द्धमान ज्ञातृवशी क्षत्रिय ही थे—कोल्लागसन्निवेशमें ही वर्द्धमानका जन्म हुआ था[२]।"

हमने कतिपय प्रमाणोंके आधारपर यह दिखाया ही है कि वाणिज्य-ग्राम और दोनों कुंडपुर समीप होते हुए भी स्वतन्त्र नगर थे। इन नगरोंके अस्तित्वके विषयमें असंदिग्ध उल्लेख है। 'होत्था'—था—शब्द के प्रयोग द्वारा उनके अस्तित्वको कायम किया गया है। एक स्थान

१—(१) Uvasagadasao (Hoernle) L. I. $$ 3 Page F. N. 8

(२) The Sacred Books of the East Vol. 22 (Gaina Sutras, Part I.) Introduction by Hermann Jocobi pp x-xiii

(३) Archaeological Survey of India (Annual Report 1903—04) by J. H. Marshall, pp. 87—88.

२—Uvasagadasao (Hoernle) L. I. $$ 3 F. N. 8

पर उल्लेख है कि वाणिज्यग्रामसे वैशाली जाते हुए वर्द्धमानको गंडकी नदी पार करनी पड़ी थी[१]। वाणिज्यग्राम और वैशालीका एक साथ एक प्रसंगमें नाम आना और दोनोंके बीच उक्त नदीका होना इस बातका प्रमाण है कि दोनों जुदा-जुदा नगर थे। बौद्ध साहित्यमें वैशाली का उल्लेख खूब मिलता है, पर कहीं भी इसका संकेत तक नहीं मिलता कि वैशालीके अन्य नाम वाणिज्यग्राम या कुण्डपुर थे। इस सबसे स्पष्ट है कि वाणिज्यग्राम, वैशाली और कुण्डपुरग्राम वास्तवमें अलग-अलग नगर थे। क्षत्रियकुण्डग्रामका स्पष्ट उल्लेख होते हुए कोल्लाग-सन्निवेशको वर्द्धमानकी जन्मभूमि मानना भी भ्रमपूर्ण है। वहांपर ज्ञातकुलकी पोषधशाला होनेके उल्लेखसे यह निष्कर्ष निकालना कि वही वर्द्धमानकी जन्मभूमि थी, युक्तिसंगत नहीं।

तीर्थङ्कर वर्द्धमानकी अवतारभूमि ब्राह्मणकुण्डग्रामका दक्षिण भाग और जन्मभूमि क्षत्रियकुण्डग्रामका उत्तर भाग था। कोल्लागसंनिवेश जन्मभूमि नहीं थी और न वैशाली ही जन्मभूमि थी। वैशाली जन्म-भूमिके पास ही एक बड़ा नगर था और कोल्लाग एक छोटी वस्ती। हालांकि स्पष्ट रूपसे कहना अभी कठिन है, फिर भी पूर्वापर वर्णन (उपासकदशा सूत्र—१:३; १ : ७; १:८; १ : ६७; १ : ७०;) से अनुमान होता है कि कोल्लागसन्निवेशमें जो पोषधशाला थी, वह आनन्द श्रावकके ज्ञातियों—सम्बन्धियोंकी थी, न कि वर्द्धमानके परिवार के ज्ञातृक्षत्रियों की। यह भी दिखाया जा चुका है कि दूइपलासय चैत्य और नायसंड उद्यानोंकी स्थिति अलग-अलग स्थानोंपर थी और वे क्रमशः वाणिज्यग्राम और कुण्डपुरग्रामके बाहर स्थित उद्यान थे। ऐसी हालतमें दोनोंका एक मान लेना निराधार कल्पनामात्र है।

१—पृ० ८ टिप्पणी नं० ४

कल्प सूत्रमें वर्द्धमानके पिताको राजा, उनके घरको राज-भवन, उनके कुलको राजकुल कहा गया है[1]। इससे कुण्डग्रामका राजा सिद्धार्थ था, ऐसा अनुमान सम्भव है। वाणिज्य ग्रामका राजा जित-शत्रु या मित्र था और वैशाली राजा चेटकके अधीन था[2]। इससे भी इनकी स्वतन्त्रता सिद्ध है।

३ : माता-पिता

तीर्थङ्कर वर्द्धमानके पिताका नाम प्रायः सिद्धार्थ क्षत्रिय और माता का नाम प्रायः त्रिशला क्षत्रियाणी उल्लिखित है[3]। एक बार ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरके निवासी ब्राह्मण ऋषभदत्त और उनकी भार्या देवानन्दा तीर्थङ्कर महावीरके दर्शनके लिए गयी थीं। वर्द्धमानको देखते ही देवानन्दाका शरीर रोमाञ्चित हो उठा। स्तनोंसे दूधकी धारा छूट पड़ी। यह देखकर गौतमने पूछा—'भदन्त ! देवानन्दाके रोमाञ्च क्यों हुआ—उसके स्तनसे दूधकी धारा क्यों बह निकली ? महावीरने जवाब दिया—'देवानन्द मेरी माता है और मैं उसका आत्मज हूं। पूर्व पुत्र-स्नेहानुरागसे यह सब हुआ है[4]।' इस प्रसंगसे सर्वविदित धारणासे

१—कल्पसूत्र : ४६, ५०, ५५, ५६, ६३, ६७, ६८, ७२, ८१, ८७, ८८, ९२, ९८, १०२, १०३

२—उपासक दशा अ० १ : ३ ; विपाक सूत्र (चौकसी मोदीवाली आवृत्ति) २ : ८ निरियावलियाओ सूत्र (जैन-धर्म प्रसारक सभा, भावनगर) वर्ग १ : पृ० ३६, ३७, ३९, ४०, ४२, ४५

३—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९५, १००३
आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३८६, ३८९

४—भगवती सूत्र : श्रु० ९ उ० ३३ : १०—१४

भिन्न यह निष्कर्ष निकलता है कि तीर्थङ्कर वर्द्धमानकी माता ब्राह्मणी देवानन्दा और पिता ब्राह्मण ऋषभदत्त थे और यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जब देवानन्दा ब्राह्मणी और ऋषभदत्त ब्राह्मण ही वास्तव में माता-पिता थे, तब त्रिशला क्षत्रियाणीको माता और सिद्धार्थ क्षत्रिय को पिता कैसे बतलाया गया।

इसका प्राचीनतम स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि वास्तवमें तीर्थंकर महावीर ब्राह्मणी देवानन्दके ही गर्भमें उत्पन्न हुए थे और ८२ दिन तक उसीके गर्भमें रहे, पर ८३ वें दिन अनुकम्पाशील देवने जीताचार (तीर्थंकर ब्राह्मण-कुलमें जन्म नहीं लेता) की ओर ध्यान दे देवानन्दा और त्रिशला क्षत्रियाणीके गर्भका परस्पर परिवर्तन कर दिया[1]। इस तरह गर्भ संहरणके कारण महावीरका जन्म त्रिशला क्षत्रियाणीकी कोखसे हुआ और त्रिशला सिद्धार्थ माता-पिताके रूपमें जगविदित हुए। ऋषभदत्त ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरके निवासी थे और सिद्धार्थ क्षत्रिय क्षत्रियकुंडग्राम नगरके। अतः ब्राह्मण कुण्डग्राम नगर वर्द्धमानकी अवतार भूमि और क्षत्रियकुण्डग्राम नगर उनकी जन्मभूमि हुई। इस गर्भ-संहरण की घटनाके स्पष्टीकरणके लिए प्राचीन-आधुनिक अनेक विद्वानोंने अनेक कल्पनाएँ रखी हैं[2] और हम नहीं चाहते कि किसी नई कल्पनाको उप-

---

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९३

२—(१) कल्पसूत्र : १६—३०;

(२) आवश्यक सूत्र (आगमोदय समिति)—श्रीमन्मलयगिर्याचार्य कृत विवरण—पृ० २५३—४;

(३) रेवरेन्ड जे० स्टिवेनशन : Kalpa Sutra (English Translation) p. 37

स्थित कर उनमें वृद्धि करें। हम केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आगममें गर्भ-संहरणकी क्रिया सम्भव बतायी गई है। हाथके सहारेसे गर्भको योनिद्वारसे बाहर निकाल अन्य गर्भमें संहरण किया जाता था। शक्रदूत हरिनैगमेषी गर्भ-संहरण-क्रियामें सिद्धहस्त बताया गया है[1] और यह क्रिया महज डाक्टरी क्रियाके ढंगकी दृष्टि-गोचर होती है।

४ : जन्म-नाम

तीर्थङ्कर वर्द्धमानका वर्द्धमान नाम ही जन्म-नाम है। जबसे बालक क्षत्रियाणी त्रिशलाकी कोखमें आया, तबसे सिद्धार्थ क्षत्रियके कुलमें धन-धान्य, सोने-चांदी, मणि-मुक्ता आदिकी विपुलता—अति वृद्धि—होने लगी। इसलिए माता-पिताने गुणानुसार पुत्रका नाम

---

(४) डॉ० जेकोबी : The Sacred Books of The East. Vol. XXII. Part 1. Introduction P. XXXI F. N. 2

(५) पं० बेचरदासजी—भगवती सूत्र : (जिनागम प्रकाशक सभा वाली आवृत्ति) द्वितीय खण्ड पृ० १७५ नोट १

(६) पं० सुखलालजी—धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण ओसवाल नवयुवक वर्ष ७ सं० ७ पृ० ४३९-४०
भगवान महावीरका जीवन पृ० ३—८;

(७) पं० दरबारीलालजी—जैन-धर्म-मीमांसा : भाग १, पृ० ९९—१०१;

१—भगवती सूत्र : श० ५ : उ० ४

वर्द्धमान रखा[१]। भगवान्‌के इस नामका उल्लेख अनेक स्थलोंपर है[२]।

५ : गोत्र, जाति और वंश परिचय :

ऋषभदत्त कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी भार्या देवानन्दा जालंधरायण गोत्रकी थी[३]। पुत्रका गोत्र पिताके अनुसार ही माना जाता था, अतः मूल पिताकी अपेक्षासे वर्द्धमान कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण थे।

सूत्रोंमें वर्द्धमानको अनेक स्थलोंपर काश्यप कहा गया है[४]। इसका कारण यह है कि सिद्धार्थ क्षत्रिय काश्यप गोत्रीय थे[५]। त्रिशला वाशिष्ठ

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९९, १००२,
कल्पसूत्र : ९०, १००, १०८,

२—सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० ६ : २२;
उत्तराध्ययन : सूत्र अ० २३ ५, १२, २३, २९;
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०, २९९

३—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९१;

४—सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : ७; श्रु० १ अ० १५ : २१
सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २५
भगवती सूत्र : श० १५ : ८७, ८६
दसवैकालिक सूत्र : अ० ४—१, २, ३
उत्तराध्ययन सू० : अ० २ आरम्भ; अ० २ : १, ४६; अ० २९ : १;
सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० ३ उ० २ : १४
श्रु० १ अ० ५ उ० १ : २
श्रु० १ अ० ११ : ५; ३२

५—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : ९९३, १००३;
कल्पसूत्र : १०९

गोत्री थी[१]। पुत्रका गोत्र पिताके गोत्रके अनुसार होता था। इसलिए वे काश्यप (काश्यप गोत्रवाले) कहलाए[२]।

जैनागमोंमें वर्द्धमानका उल्लेख जगह जगह णाय, नाय, नायपुत्त, नायसुत्त, णायपुत्त आदि सम्बोधनोंसे किया गया है[३]। बौद्ध पिटकोंमें[४]

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००४ :
कल्पसूत्र : १०९

२—कल्पसूत्र : १०८

३—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७;
उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३६ : २६७;
सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० १ उ० ५ : २७;
सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० २ उ० ३ : २२;
सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० ६ : १४, २१, २३;
सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २६, ३१;
उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : १७;
भगवती सूत्र : श० १५ : ७९;
कल्पसूत्र : ११०;
सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २;
आचारांग : श्रु० १ अ० ८ उ० ८ : ४४८;
आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;
सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २४;
सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० ६ : १९;
आचारांग : श्रु० १ अ० ९ : ४७१;
दशवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ गाथा ५१; अ० ६ : २१

४—मज्झिम निकाय (हिन्दी-अनुवाद) : उपालि-सुत्तन्त २२२; चूल-सकुलुदायि-सुत्तन्तः पृ० ३१८; चूल-दुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त पृ० ५९ चूल-सारोपम-सुत्तन्त : पृ० १२४; महासच्चक-सुत्तंत—पृ० १४७;

भी भगवानका निगंठ नातपुत्त नामसे उल्लेख आया है। 'नाय' उस समय एक क्षत्रिय कुल था[1] और उसकी गणना उस समयके प्रसिद्ध क्षत्रिय कुलीन वंशोंमें की जाती थी[2]। वर्द्धमान इसी कुलके क्षत्रिय थे[3]। इसी कारण उन्हें नाय, नायपुत्त आदि कहा जाता था।

तीर्थङ्कर वर्द्धमानकी माता क्षत्रियाणी त्रिशला वैशालीके राजा चेटककी बहिन थी[4]। उसे विदेहदिन्ना—विदेहदत्ता भी कहा गया है[5]; क्योंकि वैशाली विदेह जनपद्में अवस्थित थी[6] और उसकी राज-

---

अभयराजकुमार-सुत्तन्त : पृ० २३४; देवदह-सुत्तन्त पृ० ४२८; सामागाम - सुत्तन्त पृ० ४४१

दीघनिकाय : (सामञ्ञफल-सुत्त) १८; २१
(संगीति-परियाय-सुत्त) २८२
(महापरिनिब्बाण-सुत्त) १४५
(पासादिक-सुत्त) २५२

सुत्तनिपात : (सुभियसुत्त) १०८

विनयपिटक : (महावग्ग) पृ० २४२

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४—१००७
कल्पसूत्र—२१, २६, ८९, १०४, १०५, ११०
उववाई (धनपतसिंह प्रकाशन) पृ० ७२

२—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० १ : १३; कल्पसूत्र: २१

३—आचारांग : श्रु० २ अ० २४: ९९३; कल्पसूत्र: ३०,

४—आवश्यक चूर्णि : (पूर्व भाग) पत्र २४५ "भगवतो माया चेऽगस्स भगिणी।"

५—आचारांग : श्रु २ अध्याय २४ : १००४; कल्पसूत्र: १०९;

६—निरयावलियाओ (ए० एस० गोपानी और वी० जे० चोक्षी द्वारा सम्पादित) पृ० २६;

धानी भी थी[१]। विदेहके राजवंशकी कन्याको विदेहदिन्ना या विदेहदत्ता कहना परम्परागत परिपाटीके अनुसार ठीक ही था। सीताका नाम वैदेही इसी कारणसे पड़ा था कि वह विदेह वंशी राजा जनककी पुत्री थी।

वर्द्धमानके अनेक नामोंमें विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेहसुकुमार आदिका भी उल्लेख है[२]। वर्द्धमानके ये नाम विदेह राजकुलके साथ उनकी माताके सम्बन्धके परिचायक हैं और विदेहवंशकी कुलकन्या वैदेही, विदेहदिन्ना, विदेहदत्ताके पुत्र होनेसे पड़े, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जिस तरह चेटककी कन्या चेलनाका पुत्र 'वैदेहीपुत्त'—विदेहपुत्र—कहा गया है[३], उसी प्रकार चेटककी बहिनका पुत्र भी विदेहपुत्त आदि कहा गया है। भगवान्को "वैशालिए"—वैशालिक भी कहा गया है[४]। इसका कारण यह नहीं कि वैशाली उनकी जन्मभूमि थी अथवा कुण्डग्राम वैशालीका ही दूसरा नाम था। वर्द्धमानकी माता विशाला नगरीमें जन्मी थी। इसलिए उसका नाम विशाला हुआ। वैशालीकी राजकन्या 'विशाला'के पुत्र होनेसे ही वर्द्धमानका नाम वैशालिक पड़ा था। वर्द्धमानका ननिहाल वैशालीके अधिपति राजा

१—Gleanings of Early Buddhism. p. 12
History of Tirhut p. 34

२—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७; कल्पसूत्र: ११०

३—भगवती सूत्र : श० ७ उ० ९
दीघनिकाय : (सामञ्ञफल-सुत्त) पृ० १६, ३३
(महापरिनिब्बाण-सुत्त) पृ० ११७

४—पृ० ८ नोट ५। "विशाला महावीर जननी, तस्या अपत्यमिति वैशालिको भगवान्, तस्य वचनं शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिक श्रावकः"—अभयदेव

चेटकके यहां था, यह हम ऊपर लिख आए हैं।

वर्द्धमानके बड़े भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था[1] और उनका विवाह लिच्छवीराज चेटककी पुत्री ज्येष्ठाके साथ हुआ था[2]। चेटकके सात पुत्रियां थीं, जिनमेंसे एक सुज्येष्ठा अविवाहित अवस्थामें ही दीक्षित हो गई थी। सबसे बड़ी प्रभावतीका विवाह सिंधु सौवीर देशके वीतभय नगरके राजा उदायनके साथ, पद्मावतीका अंगदेशकी चम्पा नगरीके राजा दधिवाहनके साथ, मृगावतीका वत्सदेशके कौशाम्बीके राजा शतानीकके साथ, शिवाका उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके साथ और चेल्लणाका मगधके राजा श्रेणिक बिंबिसारके साथ हुआ था[3]। इस तरह वर्द्धमानका सम्बन्ध मातृपक्षकी ओरसे अनेक राजघरानोंके साथ था।

उनके काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहनका नाम सुदर्शना था[4]।

६ : यौवन और विवाह :

वर्द्धमानके बाल्य जीवनकी किसी महत्त्वपूर्ण घटनाका कोई जिक्र नहीं मिलता। उनके शरीरके विषयमें कहा गया है कि वह उदार,

---

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००५; कल्पसूत्र : १०९;

२—आवश्यक चूर्णि : (पूर्व भाग) पत्र २४५—"भगवतो भो (जा) यी चेऽगस्स धूया।"

३—आवश्यक चूर्णि : (उत्तर भाग) पत्र १६४
त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक १८४-१९३
निरयावलिका सूत्र : पृ० ३८-४०

४—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००५; कल्पसूत्र : १०९

शृंगारित, अलंकार-रहित होते हुए भी विभूषित, लक्षण, व्यंजन और गुणसे युक्त तथा श्रीसे अत्यन्त-अत्यन्त शोभान्वित था[1]। वर्द्धमानके मस्तकसे लेकर पैरके तलवों तकके एक-एक अवयवका वर्णन आगममें उपलब्ध है, पर स्थानाभावसे हम उसे यहां नहीं दे रहे हैं[2]। वे दीर्घ-काय—७ हाथ लम्बे—थे[3]। उनके वर्णके बारेमें कहा गया है कि वह उत्तम तपे हुए सोनेकी तरह कान्तिवाला निर्मल-गौर था[4]। उनके शरीरके विषयमें कहा गया है कि वह समचतुरस्र संस्थान और उत्कृष्ट सुदृढ़ संहननवाला था[5]। उनकी वृत्तियोंके विषयमें जो उल्लेख हैं, उनसे पता चलता है कि वे बड़े ही शान्त और उदासीन थे। वे चतुर, प्रतिज्ञा-निर्वाहमें दृढ, सर्वगुण-सम्पन्न, भद्र और विनयी थे[6]।

वर्द्धमानकी इच्छा नहीं थी कि वे विवाह करें, पर कहा गया है कि माताके विशेष आग्रहसे उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया[7]। विवाह कितने वर्षकी अवस्थामें हुआ, इसका उल्लेख नहीं मिलता, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि बालभावसे मुक्त हो जाने और विज्ञान द्वारा

१—भगवती सूत्र : श० २ उ० १ : १४

२—उववाई सूत्र : पृ० ४४ से ५४

३—उववाई सूत्र : पृ० ४१

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३८०;

४—उववाई सूत्र : पृ० ५०

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३७७;

५—उववाई सूत्र : पृ० ४१

६—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

७—कल्पसूत्र : ११०; त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र पर्व १०, सर्ग २

परिणत मतिवाले हो जानेपर ही उनका विवाह हुआ था। उनकी पत्नीका नाम कौडिन्य गोत्री क्षत्रिय कन्या यशोदा था[१]। उनके एक कन्या हुई, जिसे प्रियदर्शना या अनवद्या कहा जाता था[२]।

वर्द्धमानकी ज्येष्ठ बहन सुदर्शनाका विवाह क्षत्रियकुंडग्राममें ही हुआ और उनके जमालि नामक एक पुत्र हुआ था[३]। उनकी पुत्री प्रियदर्शनाका विवाह कौशिकगोत्री जमालिके साथ किया गया था[४]। उनके एक दौहित्री हुई, जिसके दो नाम थे—शेषवती और यशस्वती[५]।

७ : वैराग्य और प्रव्रज्या :

वर्द्धमान सहज वैरागी पुरुष थे। उन्हें अत्यन्त सुन्दर और बलवान शरीर प्राप्त हुआ था। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके उत्तमसे उत्तम भोग उन्हें सुलभ थे, पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन सबके प्रति वे उदासीन और अनुत्सुक रहते[६]। गृहस्थावस्थामें कामभोगोंको भोगते हुए भी उनकी चित्तवृत्ति बड़ी अनासक्त थी।

सिद्धार्थ क्षत्रिय और क्षत्रियाणी त्रिशला तीर्थङ्कर पार्श्वनाथकी परम्पराके श्रमणोंके अनुयायी और उपासक थे। उनके जीवनान्तकी घटना मिलती है, जिससे पता चलता है कि उनका धर्मानुराग बड़ा

१—आचारांग : श्रुत० २ अ० २४ : १००५; कल्पसूत्र : १०९

२—आचारांग : श्रुत० २ अ० २४ : १००५

३—विशेषावश्यक सूत्र : गा० २३०७ और उसकी टीका

४—उपर्युक्त; कल्पसूत्र : १०९;

५—आचारांग सूत्र : श्रुत० २ अ० २४ : १००५; कल्पसूत्र १०९

६—आचारांग सूत्र : श्रुत० २ अ० २४ : १००१

उत्कट था। उन्होंने अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक धर्मका पालन किया था और अन्तमें अहिंसाकी साधनाके लिए अपने पापोंकी आलोचना, निन्दा, गर्हा करते हुए प्रतिक्रमण कर, प्रायश्चित्त ले, यावज्जीवनके लिए अन्न-जलका त्यागकर कुश संस्तारक—दर्भशय्या पर शरीरको कृश करते हुए शेष जीवन पूरा किया था[१]। महावीरकी वैराग्यपूर्ण चित्तवृत्ति ऐसे संस्कारपूर्ण वातावरणमें काफी फलीफूली और पनपी होगी। भगवान्का अवतार देवानन्दके गर्भमें हुआ था। उसके सम्बन्धमें उल्लेख है कि वह जीवाजीवकी ज्ञाता और श्रमणोंकी उपासिका थी। ऋषभ-दत्तके विषयमें भी उल्लेख है कि वह चारों वेदोंमें निपुण था। वह इतिहास, पुराण तथा निघंटु नामक कोशका प्रवर्त्तक, याद करनेवाला और भूलोंको पकड़नेवाला था। वह वेदके छः अंगोंका ज्ञाता और षष्टि-तन्त्रमें विशारद था। गणित, शिक्षा, आचार, व्याकरण, छंद, व्युत्पत्ति, ज्योतिष तथा अन्य ब्राह्मण और परिव्राजक नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्रमें पारंगत था। वह पुण्य-पापका जानकार और श्रमणोंका उपासक था[२]। इन सब परसे भगवान्की वैराग्यपूर्ण धार्मिक चित्तवृत्तिकी भूमिकाका कुछ अंदाज लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त रूपसे अपश्चिम मरणान्तिक संलेषना कर वर्द्धमानके माता-पिता समाधिपूर्वक देहावसानको प्राप्त हुए, उस समय वर्द्ध-मानकी अवस्था २८ वर्षकी थी[३]। माता-पिताके देहावासनके बाद वे कोई दो ही वर्ष तक और गृहवासमें रहे[४]। इन दो वर्षोंमें उन्होंने कच्चा

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००६

२—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३ : १, २

३—महावीर-कथा : पृ० ११३

४—महावीर-कथा : पृ० ११३

जल नहीं पिया, रात्रि-भोजन नहीं किया, और ब्रह्मचर्यका पालन करते रहे[1]। उन्होंने एकत्व भावना भाते कषायरूपी अग्निको शान्त कर डाला। वे हमेशा सम्यक्त्व भावसे भावित रहते[2]। राज्यसत्ता प्राप्त करनेकी, अभिषिक्त होनेकी तो उन्होंने कभी मनसा तक न की और तीस वर्ष तक कुमार वासमें रहे[3]। २९ वें वर्ष वे सोना-चांदी, सेना-वाहन, धन-धान्य, कनक-रत्न आदि द्रव्योंको छोड़ने—उनका त्याग करने लगे। दीक्षाके पहले-पहले उन्होंने सारा धन बांट दिया—दानमें दे दिया और इस तरह निष्किंचन बन दीक्षाके लिए उद्यत हुए[4]।

जब वर्द्धमान ३० वर्षके हुए, तो वे समाप्तप्रतिज्ञ हुए अर्थात् उन्होंने जो प्रतिज्ञा कर रखी थी, वह सम्पूर्ण हुई[5]। इस प्रतिज्ञाके सम्बन्धमें मतभेद है। एक मत यह है कि उन्होंने माताके गर्भमें ही प्रतिज्ञा कर ली थी कि मातापिताके जीवन कालमें दीक्षा नहीं लूंगा। मातापिताके देहान्तके बाद वह प्रतिज्ञा समाप्त हुई[6]। दूसरा मत यह

१—(१) आचारांग : श्रुत० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

(२) सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २८

२—अचारांग सूत्र : श्रुत० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

३—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२१, २२२, २२३, २९९;

आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७

४—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

कल्पसूत्र: ११२; आवश्यक निर्युक्ति गा० २१२

५—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

कल्पसूत्र: ११०;

६—कल्पसूत्र : ९४; त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र-पर्व १० सर्ग २,

कल्पसूत्र : १० १४३

हैं कि मातापिताके देहत्यागके अवसर पर उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धनको दो वर्ष तक दीक्षा न लेनेका वचन दिया था, वह पूरा हुआ। जो भी हो, ३० वर्ष गृहवासमें बीता, वर्द्धमानने प्रथम वयमें मार्गशीर्ष कृष्णा १० के दिन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनेका निश्चय किया[1]।

दीक्षाके पूर्व दो वर्ष तक उन्होंने जो कठिन जीवन-साधना की, उससे उनकी आन्तरिक वैराग्य-भावनाका निदर्शन होता है। भगवान् वैरागी थे, उतने ही ज्ञानी भी थे। उन्हें जगह-जगह ज्ञानी, कुशल, मतिमान, माहन, आशुप्रज्ञ आदि कहा गया है[2]। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दीक्षाके पूर्व वे तीन ज्ञानके स्वामी थे[3]। क्रियावाद, अक्रियावाद विनयवाद, अज्ञानवाद आदि सब वादोंको अच्छी तरह जानकर वे संयम-मार्गमें उपस्थित हुए थे[4]। इस तरह उत्कट वैराग्य और उत्तम ज्ञान-मय स्थिर प्रज्ञाको लेकर भगवान् त्याग मार्गके लिए उद्यत हुए।

८ : अभिनिष्क्रमण

भगवान्‌की दीक्षा उनकी जन्मभूमि क्षत्रियकुंडग्राम नगरके 'नायसंड'

१—(१) आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७
(२) भगवती सूत्र : श० १५ : २०
(३) कल्पसूत्र : ११०
(४) आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२६

२—आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० २ : २३४
श्रु० १ अ० ५ उ० ६ : ३२२
श्रु० १ अ० ८० उ० २ : ४११
श्रु० १ अ० ८ उ० १ : ३९७

३—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९२

४—सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २७

—ज्ञातृखण्ड उद्यान या वनखण्डमें अशोक वृक्षकी छायामें हुई थी[१]। वे अकेले ही प्रव्रजित हुए[२]। भगवान् रात्रि-भोजन नहीं करते थे, ऐसा हम पहले कह आये हैं। दीक्षाके दिन उनके छट्ठभक्त उपवास था, जिसका पारणा उन्होंने दीक्षाके दूसरे दिन सुबह किया[३]। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्ग शीर्ष कृष्णा ८मीके दिन सूर्यास्तके बादसे उन्होंने आहार-पानी नहीं लिया अर्थात् ६० घण्टाका निर्जल उपवास किया। इस तरह हम देखते हैं कि भगवान्ने पवित्र प्रव्रज्याके पहलेसे ही अपने मनको शान्त मोपवास प्रार्थनामें लगा दिया।

दीक्षाके दिन वर्द्धमानने केवल एक ही दूष्य—वस्त्र—धारण किया[४]। फिर सहस्रवाहिनी चन्द्रप्रभा पालकीमें बैठ वृहत् जनसमूहके साथ उत्तर क्षत्रिय कुंडपुर सन्निवेशके बीचसे होकर ज्ञातवंशी क्षत्रियके 'नायसंड' उद्यानमें पहुंचे। वहां उन्होंने दाहिने हाथसे दाईं ओर बाएँ हाथसे बाईं ओरके समस्त केशोंको पंचमुष्ठि लोंचकर उपाड डाले। विजय मुहूर्त्तका समय था, हस्तोत्तरा—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रका योग था।

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०१७
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२९, २३१
कल्पसूत्र : ११५

२—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२४ ; कल्पसूत्र : ११६

३—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०१७ ; कल्पसूत्र : ११६
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२८, ३१९

४—भगवती सूत्र : श० १५ : २०
आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०१७ ; कल्पसूत्र : ११६
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२७

छाया पूर्वमें ढल चुकी थी। चौथी पौरुषीका समय था। वर्द्धमानने केश लुंचनकर सिद्ध भगवान्को नमस्कार किया और यावज्जीवनके लिए प्रतिज्ञा की **"सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं"**—आजसे सब पाप मेरे लिए अकृत्य है—मैं आजसे कोई पाप नही करूंगा।" इस प्रकार वर्द्धमानने यावज्जीवनके लिए सामायिक चारित्र अङ्गीकार किया और पांच महाव्रत ग्रहण किये[1]। उस समय चारों ओर स्तब्ध शान्ति छा गई। लोग चित्रांकितसे निश्चल हो सारा दृश्य एकटक देखने लगे[2]। महावीरने प्रव्रज्याके समय जो पांच महाव्रत ग्रहण किए वे इस प्रकार हैं:—

१—मे प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातका त्याग करता हूं। मैं यावज्जीवनके लिए सूक्ष्म या बादर, स्थावर या जंगम—किसी भी प्राणीकी मन, वचन और कायासे स्वयं हिंसा नहीं करूंगा, दूसरेसे हिंसा नहीं कराऊंगा और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूं, उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपने आपको उससे हटाता हूं।

२—मैं दूसरे महाव्रतमें यावज्जीवनके लिए सर्व प्रकारके मृषा—झूठ बोलनेका—वाणी दोषका त्याग करता हूं। क्रोधसे, लोभसे, भयसे या हास्यसे, मैं मन, वचन और कायासे झूठ नहीं बोलूंगा, न दूसरोंसे झूठ बुलाऊंगा, न झूठ बोलते हुए अन्य किसीका अनुमोदन करूंगा। मैं अतीतके उसपापसे निवृत्त होता हूं। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपने आपको उससे हटाता हूं।

३—मैं तीसरे महाव्रतमें यावज्जीवनके लिए सर्व अदत्तका त्याग

१—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २३६

२—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०१७

करता हूं। गांव, नगर या अरण्यमें अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु बिना दी हुई नहीं लूंगा, न दूसरे से लिराऊंगा और न कोई दूसरा लेता होगा तो उसे अनुमति दूंगा। मैं अतीतके उस पापसे निवृत्त होता हूं। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपने आपको उससे हटाता हूं।

४—मैं चौथे महाव्रतमें सर्व प्रकारके मैथुनका यावज्जीवनके लिए त्याग करता हूं। मैं देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन स्वयं सेवन नहीं करूंगा, दूसरेसे सेवन नहीं कराऊंगा और सेवन करनेवालेका अनुमोदन नहीं करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूं। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपने आपको उससे अलग हटाता हूं।

५—मैं पांचवें महाव्रतमें सर्व प्रकारके परिग्रहका यावज्जीवनके लिए त्याग करता हूं। मैं अल्प या बहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रहको ग्रहण नहीं करूंगा। न ग्रहण कराऊंगा, न परिग्रह ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूं। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे अलग हटाता हूं।

८ : अभिग्रह :

प्रव्रज्याके बाद मुनिने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धी वर्गको विसर्जित किया और अभिग्रह—निश्चय किया—"आजसे मैं बारह वर्ष पर्यन्त कायाका उत्सर्ग करता हुआ—उसकी चिन्ता न करता हुआ—देव, मनुष्य, पशु एवं पक्षी-कृत जो भी उपसर्ग—सङ्कट—उपस्थित होंगे, उन्हें समभावपूर्वक सहन करूंगा ; उनके उपस्थित होनेके समय क्षमा-भाव रखूंगा और सहनशीलता दिखलाऊँगा[१]।"

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०२० ;

२ : साधक जीवन :

१२ वर्षका तपस्वी जीवन :

प्रव्रज्याके बादके वर्द्धमान मुनिके १२ वर्षके जीवन-कालको हम उनके जीवनका साधना-काल कहेंगे। इस जीवन-कालमें उन्होंने उत्कट आत्म-साधना की, दीर्घ तपस्या और मौन-चिन्तनमें अपनी सारी शक्ति एकाग्र चित्तसे लगा दी। **"वोसट्ठचत्त देहे...मुत्तिमग्गेण अप्पाणं भावेमाणे विहरइ"**[1]। आत्म-साधनाके लिए मानो उन्होंने शरीरको व्युत्सर्ग कर दिया—न्यौछावर कर दिया।

जैन-ग्रन्थोंमें **"उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स"** अन्य तीर्थङ्करोंकी अपेक्षा वर्द्धमानका तपकर्म विशेष उग्र था—ऐसा उल्लेख मिलता है[2]। सुधर्मा स्वामीने एक बार जम्बू स्वामीसे कहा था—"जैसे सर्व समुद्रोंमें स्वयंभू श्रेष्ठ है, रसोंमें इक्षु-रस श्रेष्ठ है, वैसे ही तप उपधानमें मुनि वर्द्धमान जयवंत—श्रेष्ठ हैं[3]।" वर्द्धमान किस तरह उग्र तपस्या करते हुए जीवन-यापन करते थे, इसका वर्णन भगवती सूत्र शतक १५

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४—१०२२

२—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०

३—सूत्रकृतांग : श्रु० १ : ६ : २०

में कुछ मिलता है। दीक्षाके बाद प्रथम वर्षमें भगवान् १५।१५ दिनका उपवास करते हुए रहे। दूसरे वर्ष महीने-महीनेका उपवास करते रहे[1]। उपवासमें भी विहार तो चालू ही रखते। वर्द्धमान दीक्षाके बारहवें वर्षमें निरन्तर छट्ठभक्त उपवास करते रहे, ऐसा उल्लेख भी मिलता है[2]। उस समयकी एक बारकी तपस्याका वर्णन इस तरह है:—"भगवान् सुसमार नगरमें आ एक अशोक वनखण्डमें एक अशोक वृक्षके नीचे शिलापर बैठ आठ भक्तका उपवास करने लगे। दोनों पैर इकट्ठे कर, हाथोंको नीचे फैला, मात्र एक पदार्थपर नजर रख, आंखें फुरकाए बिना, शरीरको जरा आगेकी ओर झुका, सर्व इन्द्रियोंको अधीन कर, उन्होंने एक रात्रिकी बड़ी प्रतिमा स्वीकार की[3]।" इन सबसे स्पष्ट दीर्घकालीन उग्र तपस्या और कठोर आत्म-दमन वर्द्धमानके इस जीवन-कालकी अनन्य विशेषता रही।

वर्द्धमानने इस दीर्घ-साधना-कालमें धर्म-प्रचार—उपदेश-कार्य—नहीं किया, न शिष्य मुण्डित किए[4] और न उपासक बनाए, परन्तु अबहु-वादी—प्राय: मौन रह, जागरूकतापूर्वक आत्मशोधनमें—तीव्र ध्यान और आत्म-चिन्तनमें—समय लगाया। उनका यह जीवनकाल एकान्त आत्म-शोधनका काल था। सूत्रोंमें इसके काफी प्रमाण मिलते हैं। एक बार दीक्षित जीवनके आरम्भिक कालमें छ: वर्ष तक वर्द्धमानके

१—भगवती सूत्र : श० १५ : २१

२—भगवती सूत्र : श० ३ उ० २ : १७

३—भगवती सूत्र : श० ३ उ० २ : १७

४—केवल गोशालककी अन्तवासी होनेकी बातको प्रतिश्रुत किया—माना था। भगवती : श० १५ : ४१

साथीके रूपमें रहनेवाले और बादमें उनका साथ छोड़ अलग हो आजीविक सम्प्रदायकी स्थापना करनेवाले गोशालकने निर्ग्रन्थ मुनि आर्द्रकुमार से बातचीत करते हुए वर्द्धमानके तीर्थङ्कर कालकी जीवन-चर्याकी कटु आलोचना की थी। गोशालक और आर्द्रकुमारके बीचका वह वार्तालाप अभी तक सूत्रमें उपलब्ध है[१]। इस आलोचना-प्रसंगसे साधना-कालके जीवन पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। यह प्रसंग इस प्रकार है:—

"हे आर्द्र! महावीरने पहले किया, वह सुन। महावीर श्रमण पहले एकांताचारी था। अब उसने अनेक भिक्षुओंको इकट्ठा कर लिया है और उन्हें भिन्न-भिन्न रूपसे विस्तारपूर्वक धर्म कहता है।

"इस तरह उसने अपनी आजीविकाका रास्ता निकाल लिया है। वह सभास्थानमें भिक्षुगणमें रह अनेक लोगोंमें धर्म कहता है। इस तरह उसके पूर्वापर आचार-विचारमें सन्धि नहीं।

"या तो एकान्त ही अच्छा था अथवा यह ही—इस प्रकार अनेक साधु-परिवारके साथ रहना और उपदेश देना—ये दोनों बातें परस्पर भिन्न-भिन्न हैं—परस्पर मिलतीं नहीं।"

"तुम्हारा श्रमण शून्य, घर अथवा आराम—उद्यानादि—में नहीं ठहरता; क्योंकि वहां छोट-बड़े बहुविद् तार्किक या वादी लोगोंका आवागमन होता रहता है और उसे भय है कि वह कहीं निरुत्तर न हो जाय।"

इस वार्तालापमें भिक्षु—शिष्य—बनानेकी, सभा-परिषद्में धर्मोपदेश देनेकी, शून्य घर आरामादिमें वास न करनेकी तीव्र आलोचना की गई है। इससे सिद्ध होता है कि वर्द्धमान साधक-जीवनमें मौन रहते थे,

१—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० ६ : १-३, १५

धर्मोपदेश नहीं करते थे। किसीको प्रव्रजित नहीं करते थे और आरा-मादि शून्य घरोंमें रहते थे।

वर्द्धमानकी इस बारह वर्षकी चर्याका बड़ा ही रसप्रद वर्णन आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० ९ में मिलता है। वर्द्धमानकी रोमांचकारी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्यागके कठोर नियमोंका पालन, अनुकरणीय दृष्टि-योग, अनुकूल-प्रतिकूल—सब परिस्थितियोंमें मुदित समभाव, निस्पृह शारीरिक अनासक्ति और व्युत्सर्ग भाव, अपूर्व तितिक्षा और तपस्या, विस्मृतिपूर्ण आत्म-लवलीनता और धर्मध्यान—इन सबका एक सजीव चित्र सामने खड़ा हो जाता है। हम इस हृदयग्राही वर्णनके आधार पर साधक-जीवनका कुछ दिग्दर्शन करावेंगे।

: अचेलक अणगार :

वर्द्धमानकी अचेलक दशाका वर्णन इस प्रकार है:—

वर्द्धमानने दीक्षा ली, उस समय उनके शरीर पर एक ही वस्त्र था[1]। उन्होंने कोई तेरह महीने तक उस वस्त्रको कंधों पर डाले रखा। दूसरे वर्ष आधी शरद ऋतु बीत चुकी, तब उस वस्त्रको त्याग वे सम्पूर्ण अचेलक—वस्त्र-रहित—अनगार हो गए (४६३, ४६५)[2]। वे बाहुओंको सीधा—नीचे फैलाकर विहार करते। शीतके कारण बाहुओंको समेटते अथवा कन्धोंको बाहुओंसे संकोच करते कभी किसीने नहीं देखा (४८२)। शिशिर ऋतुमें जब पवन जोरोंसे फुफकार मारता, जब अन्य साधु किसी छाये हुए स्थानकी खोज करते, वस्त्र लपेटना चाहते और

१—कल्पसूत्रः ११६;

२—कल्पसूत्रः ११७;

तापस लकड़ियां जला शीत दूर करते—ऐसी दुःसह कड़कड़ाती सर्दीमें भी वर्द्धमान खुले स्थानमें नंगे बदन रहते और किसी प्रकारके बचाव की इच्छा तक नहीं करते। कभी-कभी तो शीतकालमें खुलेमें ध्यान करते (४९६)। नंगे बदन होनेके कारण सर्दी-गर्मीके ही नहीं, पर दंसमशक तथा अन्य कोमल कठोर स्पर्शके अनेक कष्ट उन्हें झेलने पड़े।

: निवासस्थान :

इस समयके निवासस्थानका वर्णन भी बड़ा रोचक है।

साहसी वर्द्धमान कभी निर्जन झोपड़ोंमें, कभी धर्मशालाओंमें, कभी पानी पीनेकी पोहोंमें वास करते, तो कभी लुहारकी शालामें। कभी मालियोंके घरोंमें, कभी शहरमें, कभी श्मशानमें, कभी सूने घरमें, तो कभी वृक्षके नीचे रहते और कभी घासकी गंजियोंके नीचे गुजर करते (४८५, ४८६)। ऐसे-ऐसे स्थानोंमें रहते हुए वर्द्धमानको नाना प्रकारके उपसर्ग हुए। सर्प वगैरह जीव-जंतु और गीध आदि पक्षी उन्हें काट खाते। दुराचारी मनुष्य उन्हें नाना यातना देते, गांवके रखवाले हथियारोंसे पीटते, विषयातुर स्त्रियां कामभोगके लिए सतातीं। इस तरह मनुष्य और तिर्यञ्चोंके नाना दारुण उपसर्ग, कठोर-कर्कश अनेक शब्दोंके उपसर्ग, उनपर आये। जार पुरुष उन्हें निर्जन स्थानोंमें देख चिढ़ते और पीटते और कभी उनका तिरस्कार कर उन्हें चले जानेके लिए कहते। मारने-पीटने पर भगवान् समाधिमें तल्लीन रहते और चले जानेको कहने पर अन्यत्र चले जाते (४९०-९२, ९४, ९५)।

: साधना-कालका आहार :

वर्द्धमानके भोजन-नियम बड़े कठिन थे। नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी (५०९), खान-पानमें बड़े संयमी और परिमित भोजी थे।

मानापमानमें समभाव रखते हुए घर-घर भिक्षाचर्या करते। कभी दीनभाव नहीं दिखाते थे (४७९)। रसोंमें उन्हें आसक्ति न थी और रसयुक्त पदार्थोंकी कभी आकांक्षा नहीं करते थे (४८०)। भिक्षामें सूखा, ठण्डा, बहुत दिनोंके पुराने उड़दका, पुराने धान या यवादि नीरस धान्यका जो भी आहार मिलता, उसे वे शान्त भावसे और सन्तोषपूर्वक ग्रहण करते। न मिलनेपर भी वैसी ही शान्त मुद्रा और सन्तोष रखते (५१६)। स्वादजय उनका खास लक्ष्य रहता।

: निस्पृहता और शारीरिक दमन :

शरीरके प्रति वर्द्धमानकी निरीहता बड़ी रोमाञ्चकारी थी। रोग उत्पन्न होनेपर भी वे औषध-सेवनकी इच्छा नहीं करते (५०९)। जुलाब, वमन, तेल-मर्दन, स्नान और दन्त-प्रक्षालनकी वे जरूरत नहीं रखते (५१०)। आरामके लिए पगचप्पी नहीं कराते। आंखोंमें किरकिरी गिर जाती तो वह भी उन्हें विचलित नहीं करती। ऐसी परिस्थितिमें भी वे आंख नहीं खुजलाते। शरीरमें खाज आती, तो उसे भी जीतते। इस तरह उन्होंने अपूर्व मन और देह-दमन साधा।

: नींद जय :

वर्द्धमानने कभी पूरी नींद नहीं ली। उन्हें जब नींद अधिक सताती, तब वे बाहर निकल शीतमें मुहूर्त्तभर चंक्रमण कर निद्रा दूर करते। वे अपनेको हमेशा जागृत रखनेकी चेष्टा करते रहते (४८८-८९)।

: अनासक्त योगी :

वसतिवासमें भी भगवान् न गीतोंमें आसक्त होते और न नृत्य और नाटकोंमें, न उन्हें दण्डयुद्धकी बातोंमें उत्सुकता होती और न मुष्टियुद्धकी बातोंमें (४७०)। स्त्रियों व स्त्री-पुरुषोंको परस्पर काम-कथामें तल्लीन देखकर भी वर्द्धमान मोहाधीन नहीं होते थे। वीतराग-

भावकी रक्षा करते हुए (४७१) वे इन्द्रियोंके विषयोंमें विरक्त रहते (५११)।

मौन ध्यानी

उत्कुटुक, गोदोहिका, वीरासन वगैरह अनेक आसनों द्वारा वर्द्धमान निर्विकार ध्यान ध्याया करते (५२०)। कितनी ही बार ऐसा होता कि जब वे गृहस्थोंकी वस्तीमें ठहरते, तो रूपवती स्त्रियां, उनके शरीर-सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उन्हें विषय-सेवनके लिए आमन्त्रित करतीं। ऐसे अवसर पर भी वर्द्धमान आंख उठाकर तक नहीं देखते और अन्तर्मुख हो ध्यान ध्याते (४६७)। गृहस्थोंके साथ कोई संसर्ग नहीं रखते। ध्यानावस्थामें कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देते (४६८)। वर्द्धमान अबहुवादी थे अर्थात् अल्पभाषी जीवन बिताते थे (४९३)। सहे न जा सकें, ऐसे कटु व्यङ्ग्यों के सामने भी शान्त चित्त और मौन रहते। कोई गुणगान करता, तो भी मौन, और कोई दण्डोंसे पीटता या केश खींच कष्ट देता, तो भी शान्त-मौन (४६९)। इस तरह वर्द्धमान निर्विकार, कषायरहित, मूर्छारहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तनमें समय बिताते।

दृष्टियोग और ईर्या समिति

विहार करते—चलते समय—वर्द्धमान आगेकी पुरुष प्रमाण भूमि पर दृष्टि डालते हुए चलते (४६६)। अगल-बगल या पीछेकी ओर नहीं ताकते, केवल सामनेके मार्ग पर ही दृष्टि रख सावधानीपूर्वक चलते। रास्तेमें उनसे कोई बोलना चाहता, तो भी नहीं बोलते थे (४८१)।

तपश्चर्या

शीतके दिनोंमें वर्द्धमान छायामें बैठकर ध्यान करते। गर्मीके

दिनोंमें उत्कुटुक जैसे कठोर आसन लगाकर धूपमें बैठकर तप सहन करते (५१२)।

शरीर-निर्वाहके लिए सूखे भात, मंथु और उड़दका आहार करते। एक बार निरन्तर आठ महीनों तक वर्द्धमान इन्हीं चीजों पर रहे (५१३)।

वर्द्धमान पन्द्रह-पन्द्रह दिन, महीने-महीने, छः छः महीने तक जल नहीं पीते थे। उपवासमें भी विहार करते। अन्न भी ठण्डा और वह भी तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच दिनके अन्तरसे किया करते (५१४)।

अहिंसा और तितिक्षा भाव

भगवान्‌ने पल-पल अहिंसा और अनुपम तितिक्षा भावकी आराधना की। ऐसी घटनाओंका उल्लेख मिलता कि भिक्षाके लिए जाते समय रास्तेमे कबूतर आदि पक्षी धान चुगते दिखाई देते, तो वर्द्धमान दूर टलकर चले जाते, जिससे कि उन जीवोंको विघ्न उपस्थित न हो। यदि किसी घरमें ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्तोंको कुछ पानेकी आशामें या याचना करते हुए देखते, तो उनकी आजीविकामें कहीं बाधा न पहुंचे, इस विचारसे वे दूर ही से निकल जाते। किसीके मनमें द्वेषभाव उत्पन्न होनेका वे मौका ही नहीं आने देते (५१८)।

वर्द्धमान दीक्षित हुए, तब उनके शरीर पर नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्य लगाये गये थे। चार महीनेसे भी अधिक समय तक भ्रमरादि जन्तु उनके शरीर पर मंडराते रहे और उनके शरीरके मांस और लहू को काटते और पीते रहे, पर वर्द्धमानने उन्हें दूर हटाने तककी इच्छा नहीं की, मारना तो दूर रहा।

भगवान्‌ने दुर्गम्य लाढ़ देशकी वज्रभूमि और शुभ्रभूमि—दोनों—पर

विचरण किया। वहां उनपर अनेक विपदाएं आयीं। वहांके लोग भगवान्‌को पीटा करते। उन्हें खानेको रूखा-सूखा आहार मिलता। उतरनेके लिए हल्के स्थान मिलते। उन्हें कुत्ते चारों ओरसे घेर लेते और कष्ट देते (४८९-५००)। ऐसे अवसरों पर बहुत ही थोड़े होते जो कुत्तोंसे उनकी रक्षा करते। अधिकांश तो उलटा भगवान्‌को ही पीटते और ऊपरसे कुत्ते लगा देते (५०१)। ऐसे विकट विहारमें भी अन्य साधुओंकी तरह वर्द्धमानने दण्डादिका प्रयोग नहीं किया। दुष्ट लोगोंके दुर्वचनोंको वर्द्धमान बड़े क्षमाभावसे सहन करते (५०२)।

कभी-कभी तो ऐसा होता कि भटकते रहने पर भी वर्द्धमान गांव के निकट नहीं पहुंच पाते। ग्रामके नजदीक पहुंचते त्योंही अनार्य लोग उन्हें पीटते और कहते—"तू यहांसे चला जा।" (५०४)।

कितनी ही बार इस देशके लोगोंने लकड़ियों, मुट्ठियों, भालेकी अणियों, पत्थर तथा हड्डियोंके खप्परोंसे पीट-पीटकर उनके शरीरमें घाव कर दिये (५०५)।

जब वे ध्यानमें होते, तो दुष्ट लोग उनके मांसको नोच लेते, उनपर धूल बर्षाते, उन्हें ऊंचा उठाकर नीचे गिरा देते, उन्हें आसन परसे नीचे ढकेल देते (५०६)।

वर्द्धमान साधना कालमें ऐसा ही कठोर जीवन जीते रहे।

वर्द्धमानसे महावीर

स्व-आत्म-अनुभवसे संसारकी असारताको समझ मन, वचन और कायाको वशमें रखते हुए वर्द्धमानने १२ वर्षके दीर्घ साधनाकालमें इसी तरह आत्म साक्षीपूर्वक संयम-धर्मकी रक्षा की[1]।

१—आचारांग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ उ० ४ : ५२२

उपकार-अपकार, सुख-दुःख, जीवन मृत्यु, आदर-अनादर, लाभ अलाभ सब परिस्थितियोंमें समस्थिति—समभावका अनुपम विकास किया[1]।

वे संसार-समुद्रसे पार पानेकी ही हमेशा सोचा करते और कर्म रूपी शत्रुओके समुच्छेदमें निशिदिन तत्पर रहते। निशिदिन मुक्तिमार्ग द्वारा आत्माको भावित करते रहते[2]।

देव, मनुष्य, पशु-पक्षी कृत जो भी उपसर्ग हुए, उन्हें अदीन भावसे, अव्यथित मनसे, अम्लान चित्तसे, मन-वचन-कायाको वशमें रखते हुए सहन किया और अनुपम तितिक्षा और समभाव दिखलाया[3]।

इसी अनुपम चिन्तन, अनुपम ध्यान, अनुपम तप और अनुपम तितिक्षाके कारण ही वर्द्धमानका नाम स्थान-स्थान पर वीर—'महावीर मिलता है। दुर्जय रागद्वेषादि आन्तर शत्रुओंको निराकरण करने में विक्रांत शूर—महान् वीर होनेसे ही वे महावीर कहलाए। कहा भी है:—

"भयभैरवमें अचल तथा परिषह और उपसर्गोंको क्षमापूर्वक—समभाव पूर्वक—सहन करनेवाले होनेके कारण ही वर्द्धमानका नाम महावीर पड़ा। अत्यन्त स्थिर धी, सुख-दुःखमें हर्ष-शोक रहित तथा तपस्यामें अत्यन्त पराक्रमशील होनेके कारण वे महावीर कहलाए[4]।

१—कल्पसूत्र : ११९; आचारांग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४६९, ५१९

२—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७५;
श्रु० २ अ० २४ : १०२२

३—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०२३;

४—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००२; कल्पसूत्र : १०८;

वर्द्धमान शरीरको त्याग कर रहते। उन्होंने वीर योद्धाकी तरह कष्टोंके सामने कभी पीठ नहीं दिखाई[1]। जिस तरह बलवान हाथी युद्धक्षेत्रके अग्रभागमें जाकर विजय प्राप्त करता है, उसी तरह दारुण विपदाओंमें अडिग आत्मसाधन कर वर्द्धमानने वास्तवमें ही बड़ा पुरुषार्थ दिखलाया[2] और सच ही महावीर कहलाए।

साधनाकालके अनुभव और अन्तिम सिद्धि

ऊपर एक जगह बतलाया जा चुका है कि वर्द्धमानके माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान्‌के श्रमणोंके अनुयायी थे। इससे जन्मसे ही भगवान्‌को इस प्रसिद्ध श्रमण-परम्पराके धार्मिक आचार-विचारोंकी विरासत मिलनी स्वाभाविक थी, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका जीवन इस परम्पराके किसी संतपुरुषके प्रत्यक्ष संसर्गसे प्रभावित, प्रस्फुटित और विकसित हुआ था। कम-से-कम सूत्रोंमें ऐसा कोई वर्णन नहीं मिलता। इससे यह प्रकट है कि वर्द्धमान स्वयंसंबुद्ध थे। स्व-आत्म-अनुभवसे ही उन्होंने संसारके स्वरूपको जाना था[3]। उन्हें अनेक स्थानों पर सहसंबुद्ध कहा गया है[4], इसका रहस्य यही है।

जन्म दुःख है, आधि दुःख है, व्याधि दुःख है, जरा दुःख है, मृत्यु दुःख है—इस परम अनुभवसे ही वर्द्धमानको गृह-त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करनेकी प्रेरणा मिली। संसार दुःखसे जल रहा है। जहां दुःख ही दुःख है, वहां परम शांति कैसे मिले—इस एक प्रश्नके हलके लिए

१—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ उ० ३ : ५०७
२—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ उ० ३ : ५०३
३—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ : ५२२
४—भगवती सूत्र : श० १ उ० १ : २;
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २१२

ही उन्होंने महान् त्याग किया। अपने दीर्घ साधनाकालमें वर्द्धमानने, दुःख क्यों होते हैं, इसके कारणोंकी खोज की, दुःख दूर करनेके उपायोंका चिन्तन किया। दुःख-क्षयके व्यापक सर्वाङ्गसम्पूर्ण नियमोंको गंभीर चिन्तनसे स्थिर किया[१]।

संसार क्या, संसारके तत्त्व क्या, संसार-बन्धनसे छुटकारा कैसे मिले—इस विषयमें जो सरल, बुद्धिगम्य और गम्भीर तत्त्वज्ञान वर्द्धमानने दिया, वह साधनाकालके दीर्घ मौन, तत्त्वचिन्तन और आत्मशोधका ही परिणाम था। अब्रह्मचर्य आत्मसिद्धिके लिए कितना घातक है, इसकी सम्यक् संबोधि इसी कालमें हुई। गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ब्रह्मचर्यके व्यापक नियमोंका स्थिरीकरण इसी कालके अनुभवोंके आधार पर हुआ[२]। अहिंसाके सिद्धान्तको सम्पूर्ण रूपसे व्यवहारधर्म बनानेके लिए वर्द्धमानने चलने-फिरने, बोलने-बैठने, खाने-पीने, वस्तुको लेने-रखने तथा मलमूत्रादि विसर्जन करनेके सम्बन्धमें जो नियम बादमें अपने संघमें प्रचलित किए, वे इसी समयके गहरे चिन्तनके फल थे। उन्होंने सर्व जीवोंकी समानताके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अनुभव इसी कालमें किया[३]।

इस तरह यह साधनाकाल वर्द्धमानके जीवनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण समय था।

गंभीर चिन्तन और धर्म-ध्यानके कारण उनके हृदयकी ज्ञान-ऊर्मियां विकसित होती जाती थीं और अनेक प्रकारकी आत्मसिद्धियां उन्हें

१—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७५, ४७६

२—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ : ४६७, ४७७

३—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ : ४७३, ४७४

उपलब्ध हुईं। दूसरोंके मनोभावको जान लेनेकी अद्भुत शक्ति जिसे पारिभाषिक शब्दोंमें 'मनःपर्यवज्ञान' कहा जाता है, वह तो वर्द्धमान को दीक्षा लेते ही प्राप्त हो गई थी[1]। निमित्तज्ञानकी अद्भुत शक्ति भी इस कालमें उनमें देखी जाती है[2]। तेजोलेश्या और शीतललेश्या जैसी प्रबल लब्धियां भी तपःबलसे उन्हें प्राप्त हुईं[3]।

वर्द्धमानने अपनी इन शक्तियोंका पूर्ण आत्मदशा प्राप्त करनेके बाद कभी दुरुपयोग नहीं किया और न किसीको करने दिया। हां, साधनाकालमें इन शक्तियोंका दुरुपयोग भी हुआ। जागृत वर्द्धमान भविष्यत्के लिए सजग हो गये।

इस साधनाकालका सबसे बड़ा फल तो था केवल ज्ञान और केवल दर्शनकी प्राप्ति। ये सर्वोपरि ज्ञान और दर्शन उन्हें दीक्षा-जीवनके १३ वें वर्षके आरम्भमें प्राप्त हुए। केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त करनेकी घटनाका वर्णन इस प्रकार है।

: केवल ज्ञान केवल दर्शन :

तपस्वी वर्द्धमानको अनुपम ज्ञान, अनुपम दर्शन, अनुपम चरित्र, अनुपम आर्जव, अनुपम लाघव, अनुपम क्षान्ति, अनुपम मुक्ति, अनुपम गुप्ति, अनुपम तुष्टि, अनुपम सत्य, संयम और तपसे अपनी आत्माको भावित करते हुए १२ वर्षका दीर्घकाल बीत गया[4]।

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०१९

२—भगवती सूत्र : श० १५ : ४३, ४६; ५६-५९

३—भगवती सूत्र : श० १५ : ४८-५३

४—कल्पसूत्र : १२०;

आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०२२;

१३वें वर्षमें वर्द्धमान जंभियग्राम नगरके बाहर ऋजुबालिका नदीके उत्तर किनारे, श्यामाक गाथापतिकी कर्षणभूमिमें व्यावृत नामक चैत्यके अदूर-समीप उसके ईशान कोणकी ओर शालवृक्षके नीचे गोदोहिका —उत्कुटुक आसनमें स्थित होकर सूर्यके तापमें आताप ले रहे थे। उस दिन वर्द्धमानके दो दिनका निर्जल उपवास था। ग्रीष्म ऋतुका वैशाख महीना था, शुक्ल दशमीका दिन था। छाया पूर्वकी ओर ढल चुकी थी और पश्चान्ह—अन्तिम पौरुषीका समय था। उस निस्तब्ध शान्त वातावरणमें आश्चर्यकारी एकाग्रताके साथ भगवान् शुक्ल ध्यानमें लवलीन थे। ऐसे समय विजय नामक मुहूर्त्तमें उत्तराफाल्गुनी योगमें प्रबल पुरुषार्थी भगवान्‌ने घनघाति कर्मोंका क्षय कर डाला और उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हुए[1]।

यह चरम, उत्कृष्ट, अनुत्तर ज्ञानदर्शन इतना अनन्त, व्यापक, सम्पूर्ण, निरावरण और अव्याहत होता है कि इसकी प्राप्तिके बाद मनुष्य, देव, मनुष्य तथा असुर-प्रधान इस लोककी सर्व पर्याय जानने देखने लगता है। वर्द्धमान अब ऐसे ही ज्ञानदर्शनके धारक हुए—वे सर्वलोकके सर्वजीवोंके सर्वभाव जानने देखने लगे[2]।

इस तरह केवली, अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ और सर्वभावदर्शी बननेके बाद वर्द्धमान तीर्थङ्कर महावीर अथवा श्रमण भगवान् महावीर कहलाए।

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०२४;

आवश्यक निर्युक्ति गा० २५२, २५३, २५४, २५५;

कल्पसूत्र : १२०;

२—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०२५

कल्पसूत्र : १२१

३ : तीर्थंकर-जीवन :

गणधरवाद

तीर्थका अर्थ होता है जिसके द्वारा तिरा जा सके। तीर्थङ्करका अर्थ होता है तीर्थ करनेवाला। श्रमण भगवान् वर्द्धमानने प्रवचन दिया—संसार-समुद्र तीरनेका मार्ग स्थापित किया—इसलिये वे तीर्थङ्कर कहलाए[1]। भगवान्का तीर्थङ्कर जीवन, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्तिके बाद ही, शुरू होता है[2]। अनन्त ज्ञानदर्शन प्राप्तिके बाद भगवान् ग्राम-ग्राम पैदल विहार कर धर्मोपदेश देने लगे। भगवान्ने पहले देवोंको और फिर मनुष्योंको उपदेश दिया[3]। देवोंको दिया गया उपदेश निष्फल गया[4]। तीर्थङ्करका उपदेश इस तरह निष्फल जाय, यह एक आश्चर्य माना गया है[5]।

१—भगवती सूत्र : (जिनागम प्रकाशक सभा) प्र० ख० अभयदेवसूरि टीका पृ० २०

तरन्ति तेन संसारसागरमिति तीर्थं प्रवचनम्,

तदव्यतिरेकाच्चेह संघतीर्थम्, तत्करणशीलत्वात् तीर्थंकरः।

२—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०२७

३—उपर्युक्त

४—स्थानांग सूत्र : अ० १० उ० ३ : सू० ७७७;

५—उपर्युक्त

भगवान् जंभियग्राम नगरसे मध्यम पावापुरी पधारे। वहां इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचल-भ्राता, मेतार्य, प्रभास—ये ग्यारह वेदविद् धुरंधर विद्वान् भी उपस्थित थे। मध्यम पावापुरीमें उस समय सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मणने विशाल यज्ञ चालू कर रखा था और उपर्युक्त वेदविद् याज्ञिक ब्राह्मण उसी यज्ञके निमित्त अपने सैकड़ों शिष्योंके साथ वहां आये हुए थे। भगवान्‌के प्रवचनको सुननेके लिए अनेक लोगोंको जाते देख इन ब्राह्मणोंके मनमें पाण्डित्यका अभिमान जागृत हो गया और ईर्ष्यावश तथा कौतूहलवश वे भी एकके बाद एक महावीरके पास पहुंचे।

इन विद्वानोंके मनमें जीव है या नहीं, कर्म है या नहीं, शरीरसे भिन्न जीवात्मा है या नहीं, जगत् क्या माया नहीं, भूत हैं क्या, क्या समान योनिमें ही जन्मान्तर नहीं होता, बन्ध और मोक्ष है या नहीं, देव हैं या नहीं, नैरयिक हैं या नहीं, पुण्य-पाप है या नहीं, परलोक-पुनर्जन्म है या नहीं, निर्वाण-मोक्षस्थान है या नहीं—आदि भिन्न-भिन्न चर्चायें—प्रश्न थे[१]। भगवान्‌ने एक-एक प्रश्नका अलग-अलग उत्तर दिया[२]। इन उत्तरों परसे भगवान्‌के बादकी संलग्न रूप-रेखा निम्न प्रकार बनती है:—

१—यह संसार शून्य नहीं वास्तविक है। जीव-अजीव इन दोनों तत्त्वोंसे बना हुआ संसार केवल माया नहीं हो सकता। यह प्रत्यक्ष

१—आवश्यक निर्युक्ति (यशो० ग्रं०)—१७, २५, ३१, ३५, ३९, ४३, ४७, ५१, ५५, ५९, ६३

२—आवश्यक निर्युक्ति (यशो० ग्रं०) १८-२४; २६-३०; ३२-३४; ३६-३८; ४०-४२; ४४-४६; ४८-५०; ५२-५४; ५६-५८; ६०-६२; ६४-६५;

दिखनेवाला स्थूल-सूक्ष्म भूतात्मक जगत् वास्तविक है। पदार्थोंमें सतत् परिवर्त्तन—उत्पाद-व्यय—होते रहते हैं। उनकी अपेक्षा संसार अशाश्वत है, पर द्रव्य—मूलभूत तत्त्वों—की दृष्टिसे वह शाश्वत है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छ: शाश्वत द्रव्य है और यह जगत् इन्हीं छ: द्रव्योंका समुदाय है। जगत्के परिवर्त्तन इन्ही छ: द्रव्योंमें होते हुए उत्पाद-व्ययको लेकर है।

२—(१) आत्मा है। ज्ञान, चैतन्यसे जो प्रत्यक्ष जानी जा सकती है, वह आत्मा है। जानने-देखनेका जो साधन है, वही जड़से भिन्न आत्मा है। यदि आत्मा न हो, तो धर्म, दान आदि क्रियाका आधार ही क्या रहे? (२) आत्मा शरीरसे भिन्न है। जड़ देह तथा इन्द्रियोसे भिन्न यदि आत्मा न हो, तो इन्द्रियोका नाश होनेपर भी इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञानकी स्मृति कैसे रह सकती है? जो स्वय इन्द्रिय नही है, पर जो इन्द्रियोकी चेतन-शक्ति है, जो स्वयं देह नही, पर जो देहकी अन्तरशक्ति है, वह ही आत्मा है और शरीरसे भिन्न पदार्थ है। आत्मा चेतन है। शरीर आदि पुद्गल—जड़ हैं। इस तरह दोनों अपने लक्षणोंसे भिन्न है और दोनो कभी एक नही हो सकते। आत्मा नित्य है; क्योंकि वह हमेशा अपने चैतन्यरूपमें स्थिर रहती है।

३—(१) कर्म हैं। चेतन आत्मासे भिन्न जड़ कर्म हैं जो, आत्माके परिणामों—शुभ-अशुभ भावोंके कारण, कषाययुक्त आत्माके प्रदेशोंके साथ जुड़ जाते हैं और परिणामोंके अनुसार भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देते हैं। जीवोंमें सुख-दु:खकी विचित्रता इन कर्मोंके कारण ही है। (२) कर्म आत्माके नहीं लगते, पर आत्मा कर्मोंको लगाती है। अत: आत्मा अपने कर्मोंकी कर्त्ता है। कर्मोंका फल भी आत्माको ही भोगना पड़ता है। कर्मोंका कर्त्ता एक और फल-

भोक्ता दूसरा—ऐसा नहीं होता, अत: आत्मा निज कर्मोंका फल भोगती है। वह पुण्य-पापकी कर्त्ता और भोक्ता है। (३) आत्मा शाश्वत है, पर अपने कर्मोंके अनुसार पुन:-पुन: जन्म-जन्मान्तर करती रहती है। बार-बार भिन्न-भिन्न शरीर धारण ही पुनर्जन्म है। मनुष्य हमेशा मनुष्य-रूप ही धारण करेगा और पशु हमेशा पशु रूप ही—ऐसा नियम नहीं हो सकता। जिस जन्ममें जीव जैसा कर्म करेगा, भविष्यत्में उसीके अनुसार उसे फल मिलेगा। मनुष्य जन्मान्तरमें पशु-रूप शरीर धारण कर सकता है और पशु मनुष्य-रूप। देव, मनुष्य, नर्क और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी, वृक्षादिकी योनि)—ये चार गतियां हैं। जीव अपने कृत कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करता रहता है।

४—गति-भ्रमण ही संसार है और यह संसार-बन्धन कर्म-बन्धनसे होता है। जब तक कर्म-बन्धन रहता है, संसार-भ्रमण नहीं मिटता।

५—जैसे कर्म-बन्धनके कारण आश्रव हैं, वैसे ही कर्म-निरोधके हेतु संवर हैं। जब कर्म-निरोध होता है, तब संसार-भ्रमण भी मिट जाता है।

६—आत्मा और कर्मका सम्बन्ध तदात्मिक नहीं है। आत्माके कर्मोंका बन्धन होता है, पर इससे आत्मा कर्ममय नहीं हो जाती। उसका अलग अस्तित्व कभी विलीन नहीं होता। वह चेतनसे जड़ नहीं हो जाती, पर हमेशा चेतन-रूप ही रहती है। इसलिये जड़ पुद्गलसे आत्माकी अलग सिद्धि—उसका छुटकारा हो सकता है। आत्माकी स्वभाव-सिद्धि ही उसकी मुक्ति है। और चूंकि स्वभाव-सिद्धि सम्भव है, अत: मोक्ष भी सम्भव है। मोक्षालय—मोक्षस्थान-है, जहां शुद्ध चैतन्यमय आत्माएं हैं। शुद्ध उपायसे—कर्मोंकी निर्जरा करते-करते कर्मोंको आत्म-प्रदेशोंसे झाड़ते-झाड़ते आत्मा सम्पूर्ण शुद्ध

हो जाती है—मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

भगवान्‌के असीम ज्ञानके सम्मुख ब्राह्मण पण्डितोंका पाण्डित्य-मद स्वयं ही बिखर गया। सबके अद्‌भुत दृष्टि-उन्मेष हुआ और सबका मस्तिष्क भगवान्‌के चरणोंमें झुक गया। सूत्रकृतांगसूत्रमें भगवान्‌के वादकी रूप-रेखा उपस्थित करनेवाली कितनी ही गाथाएँ उपलब्ध हैं[1]। मालूम देता है जैसे वे ब्राह्मण-पण्डितोंके रहेसहे अभिनिवेशको दूर कर उन्हें स्थिर करनेके लिये कही गई हों। भगवान्‌ने कहा:—

"मत विश्वास करो कि चार गति-रूप संसार नहीं है, पर विश्वास करो कि चार गति-रूप संसार है।

मत विश्वास करो कि जीव अजीव नहीं है, पर विश्वास करो कि जीव अजीव है।

मत विश्वास करो कि धर्म अधर्म नहीं है, पर विश्वास करो कि धर्म अधर्म है।

मत विश्वास करो कि क्रोध मान नहीं है, पर विश्वास करो कि क्रोध मान है।

मत विश्वास करो कि माया लोभ नहीं है, पर विश्वास करो कि माया लोभ है।

मत विश्वास करो कि राग द्वेष नहीं है, पर विश्वास करो कि राग द्वेष है।

मत विश्वास करो कि साधु असाधु नहीं है, पर विश्वास करो कि साधु असाधु है।

मत विश्वास करो कि पुण्य पाप नहीं है, पर विश्वास करो कि पुण्य पाप है।

१—सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० २ अ० ५ : १२-२८;

मत विश्वास करो कि आश्रव संवर नहीं है, पर विश्वास करो कि आश्रव संवर है।

मत विश्वास करो कि क्रिया अक्रिया नहीं हैं, पर विश्वास करो कि क्रिया अक्रिया है।

मत विश्वास करो कि वेदना निर्जरा नहीं है, पर विश्वास करो कि वेदना निर्जरा है।

मत विश्वास करो कि बन्ध मोक्ष नहीं है, पर विश्वास करो कि बन्ध मोक्ष है।

मत विश्वास करो कि सिद्धि असिद्धि नहीं है, पर विश्वास करो कि सिद्धि असिद्धि है।

मत विश्वास करो कि सिद्धि स्थान नहीं है, पर विश्वास करो कि सिद्धि स्थान है।

भगवान्‌के इन अनुभवमय वचनोंको सुनकर ब्राह्मण पण्डित मंत्र-मुग्ध-से हो गये। उनके हृदयमें भगवान्‌के तत्त्वज्ञानके प्रति अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनके हृदयकी सारी जिज्ञासाएं शांत हुईं और वे मूक भावसे नतमस्तक हो हाथ जोड़ भगवान्‌की ओर निर्निमेष दृष्टिसे ताकने लगे।

प्रथम धर्मोपदेश

इसके बाद भगवान्‌ने गौतमादि पण्डितों और परिषद्‌को धर्मोपदेश दिया[1]। इस धर्मोपदेशमें छः जीवनिकाय, पांच महाव्रत और भावनाओंका विस्तृत वर्णन किया, ऐसा सूत्रमें उल्लेख है[2]। जीवनिकाय

१—आचारांग सूत्र : श्रु २ अ० २४: १०२७, २८;

२—आचारांग सूत्र : श्रु २ अ० २४: १०२८;
आवश्यक निर्युक्त: २७१

वाला अंश आचारांग और दशवैकालिक सूत्रोंमें अभी तक संगृहीत है[1]। पांच महाव्रतवाला अंश आचारांग दशवैकालिक सूत्रमें उपलब्ध है[2]। पाठक इस उपदेशको उपर्युक्त आगमोंमें देखें। देवोंको जो उपदेश दिया गया और जो निष्फल गया, सम्भवतः वही फिर मनुष्योंको दिया गया। इससे कहा जा सकता है कि भगवान्का प्रथम धर्मोपदेश यही था।

: संघ-स्थापना :

वादविवाद और यह धर्मोपदेश सुननेके बाद इन्द्रभूति आदि ग्यारह ही पण्डितोंकी भावनामें आमूल परिवर्तन हो गया। वे खड़े हो गये और भगवान्को तीन बार प्रदक्षिणा कर वंदन-नमस्कार कर बोले: "हमें निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा हुई है, उसमें विश्वास हुआ है, रुचि हुई है। हम आपके प्रवचनके अनुसार जीवन बितानेके लिये तैयार हैं। आप कहते हैं वह सत्य है, असंदिग्ध है।" भगवान् बोले—"जैसी इच्छा हो, वैसा करो, प्रतिबन्ध न करो।" पण्डितोंने अपने घरवालोंकी आज्ञा ली। अपने केश मूंड़वा डाले और भगवान्के पाससे पांच महाव्रत ग्रहण कर अपने-अपने शिष्योंके साथ प्रव्रज्या ली। भगवान्ने बतलाया —"इस प्रकार चलना, इस प्रकार रहना, इस प्रकार बैठना, इस प्रकार सोना, इस प्रकार खाना, इस प्रकार बोलना, और इस प्रकार प्राणी, भूत, जीव और सत्वके प्रति आत्म-संयमपूर्वक वर्तन करना।"

१—आचारांग सूत्र : श्रु० १ अ० १ उ० १-७; दशवैकालिक सूत्र : अ० ४

२—आचारांग सूत्र : श्रु० २, अ० २४: १०२९—१०८०

दशवैकालिक : अ० ४

इस परिषद्में अनेक स्त्री-पुरुष मौजूद थे। चम्पानगरीके राजा दधिवाहनकी पुत्री ब्रह्मचारिणी आर्या वसुमति (चन्दनबाला) ने भी इस अवसर पर प्रव्रज्या ग्रहण की तथा और भी अनेक स्त्रियां प्रव्रजित हुई।

भगवान्ने साधुओंको अलग-अलग समूहोंमें बांट उनके ९ गण बनाये। इन ९ गणोंकी देख-रेख इन्द्रभूति आदि उपर्युक्त ११ ब्राह्मण मुनियों पर आई[१]। अतएव वे गणधर कहलाए।

भिक्षुणियोंका भार आर्या चन्दना पर छोड़ा।

इस समय अन्य अनेक पुरुष और स्त्रियां भी उपासक-उपासिकाएं बनीं।

इस तरह मध्यम पावामें श्रमण, श्रमणी, उपासक और उपासिका रूप चतुर्विध संघकी नींव पड़ी।

: अनुशासन और व्यवस्था :

भगवान् बड़े कड़े अनुशासक थे। उनकी व्यवस्था-शक्ति बड़ी अद्भुत थी। भगवान्ने संघकी नींव बड़े सुन्दर तत्त्वों पर डाली थी। (१) आत्म-जय, (२) अहिंसा, (३) व्रत, (४) विनय, (५) शील, (६) मैत्री (७) समभाव और (८) प्रमोद इन आठ तत्त्वोंके आधार पर ही सारी व्यवस्था चलती थी।

(१) आत्मजय : भगवान्की दृष्टि सम्पूर्णतः आध्यात्मिक थी। उन्होंने जगह-जगह कहा है "आत्मा ही वास्तवमें दुर्दम्य है, आत्माको ही जीतना चाहिए[२]।" "आत्माकी जय यही परम जय है। आत्माके

१—कल्पसूत्र : स्थिरावली : १;

आवश्यक निर्युक्ति : गा० २६८-९

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १ : १५

साथ ही युद्ध कर। आत्माके द्वारा आत्माको जीत[1]।" "एक आत्माको जीत लेनेसे सब जीते जाते हैं[2]।" भौतिक सुखोंमें डूबी हुई दुनियाके सामने 'तप और संयम'[3] से आत्माको जीतनेका नारा उपस्थित करना —यही भगवान्‌के संघकी खास दृष्टि थी। 'अपनेको जीतनेवालों' का एक संघ स्थापित कर उन्होंने भौतिकवादको एक संगठित चुनौती देनेका बल दिया था। जो भी आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म-विजय करने का इच्छुक होता, वह संघका अङ्गी हो जाता। संघ आध्यात्मिक साधनाको बल प्रदान करता था तथा किसी प्रकारकी भौतिक उन्नतिका आकांक्षी नहीं था। इस संघके अनुयायीकी साधना इहलोकके सुखके लिए नहीं हो सकती थी, परलोकके काम-भोगके लिए नहीं हो सकती थी, कीर्ति-श्लाघाके लिए नहीं हो सकती थी, पर केवल आत्मिक शत्रुओं पर विजय पानेकी दृष्टिसे हो सकती थी[4]।

(२) **अहिंसा :** जिस तरह संघकी दृष्टि शुद्ध आध्यात्मिक थी, उसी तरह उसकी नीति सम्पूर्णतः अहिंसक थी। पृथ्वीकाय, अप्‌काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और चलते-फिरते—त्रस-जीव—इन छः प्रकारके जीवोंके प्रति संयमपूर्ण व्यवहार—यही अहिंसाकी परिभाषा थी[5]। जो मन, वचन, काया और करने, कराने, अनुमोदन करने रूप सर्व जीव-हिंसामें पापका विश्वास रखता, वही अहिंसक माना

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : ३४, ३५

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ९ : ३६

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १ : १६

४—दशवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० ४ : ३

सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० १ : ५०

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : ९

जाता था।[१] और अहिंसामें विश्वास रखनेवाला कोई भी स्त्री-पुरुष संघका अङ्गी बन सकता था। 'अहिंसा, संयम और तप ही धर्म है'—यह विश्वास सर्वत्यागी, अल्पत्यागी—सबको रखना जरूरी होता था। जो ऐसा विश्वास रखते थे, वे सम्यक्त्वी कहलाते थे।

(३) **व्रत** : संघके सारे अङ्गी व्रती होते। विश्वासकी—श्रद्धाकी दृष्टिसे सबको सम्पूर्ण अहिंसामें निष्ठा रखनी होती, पर व्रतकी दृष्टिसे सामर्थ्यके अनुसार महाव्रती, अणुव्रती बना जा सकता था[२]।

भगवान्‌ने तीन तरहके मनुष्योंकी कल्पना की थी। एक ऐसे जो परलोककी चिन्ता ही नहीं करते और जो धिग्जीवनकी ही प्रशंसा करते हैं। जो हिंसा आदि परक्लेशकारी पापोंसे सम्पूर्ण अविरत होते और महान् आरम्भ, महान् समारम्भ और नाना पापकर्म कर उदार मानुषिक भोगोंको भोगनेमें ही अपना जीवन व्यतीत करते है[३]। ये अव्रती हैं। दूसरे ऐसे जो धन संपत्ति, घरबार, माता-पिता और शरीरकी आसक्तिको छोड़ सर्वथा निरारम्भी और निष्परिग्रही जीवन बीताते हैं। जो हिंसा आदि पापोंसे मन, वचन और काया द्वारा न करने, न कराने, न अनुमोदन करने रूपसे सर्वथा जीवनपर्यन्त विरत होते हैं और जिनका जीवन शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव, और अहिंसाके उपदेशके लिए होता है[४]। ये

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : १०, ११

२—उववाई सूत्र : सू० ३४;
उपासकदशा सूत्र : अ० १ : १२

३—सूत्रकृतांग सूत्र श्रु० २ अ० २ : ५५ ; श्रु० २ अ० २ : ६१-६८

४—सूत्रकृतांग श्रु० २ अ० १ : ३५-५८
श्रु० २ अ० २ : ६९-७४

सर्व विरति साधु होते हैं। तीसरे वे, जो अल्प इच्छा (परिग्रह) और अल्पारंभी होते हैं; जो हिंसा आदि पापोंसे अमुक अंशमें निवृत्त होते है और अमुकमें नहीं होते; जो सावद्य कार्योंमेसे कितनों हीसे विरत होते हैं, कितनों ही से नहीं[१]—ये देश विरति श्रमणोपासक होते हैं।

भगवान्‌ने पहले वर्गको अधर्म-पक्षी, कृष्णपक्षी कहा है; ऐसे जीवनको अनार्य, अन्यायपूर्ण, अशुद्ध, मिथ्या और असाधु बतलाया है[२]। भगवान्‌ने दूसरे वर्गको धर्मपक्षी कहा है। ऐसे उपशांत, सम्पूर्ण विरत जीवनको आर्य, संशुद्ध, न्यायसगत, एकांत सम्यक् और साधु बतलाया है[३]। भगवान्‌ने तीसरे वर्गको मिश्रपक्षी कहा है। विरति की अपेक्षासे ऐसा जीवन सम्यक् और संशुद्ध होता है और अविरति की अपेक्षासे असम्यक् और असंशुद्ध[४]। भगवान्‌ने मनुष्य-जीवनका उद्धार विरतिमें बतलाया है। सर्वव्रती और अल्पव्रती दोनोंका उत्थान होता है और वे आत्माकी चरम सिद्धिको पाते हैं[५]। अविरत उसी तरह नर्कवासमें डूबता है, जिस तरह लोहेका भारी गोला जलमें फेंके जाने पर। उसका जीवन निरंतर पापी होता है[६]। संघमें वही समझा जाता, जो सर्वविरत या अंशव्रती होता।

१—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ७५-७७

२—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ५६, ५७,

३—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ५८, ५९, ७८;

४—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ६०, ७७, ७८;

५—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ७३-७४, ७७

६—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ६५

श्रु० २ अ० ४

जो महाव्रती बनते, उन्हें परिवार और घरका सम्बन्ध तोड़ अनागारी होना पड़ता[1] और आजीवनके लिए अहिंसाका महाव्रत अङ्गीकार करना पड़ता। उनकी प्रतिज्ञा होती—"हे भदन्त! प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातसे विरमण करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्व प्राण-अतिपातका प्रत्याख्यान करता हूं। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी हैं, मैं उनकी मन, वचन, कायासे हिंसा नहीं करूंगा, न कराऊंगा, और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूंगा[2]। त्रिविध-त्रिवध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—प्राणातिपात करनेका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! मैंने अतीतमे प्राणातिपात किया, उससे हटता हू, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और अपनी आत्माको उस पापसे छुड़ाता हू। हे भदन्त! सर्व प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रतमे मैं अपनेको अवस्थित करता हू[3]।"

इस अहिंसा महाव्रतकी रक्षाके लिए ठीक इसी रूपमें मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन विरमण रूप अन्य पांच महाव्रतोंको यावज्जीवनके लिए अङ्गीकार कर उनका सूक्ष्म रूपसे पालन करना होता था[4]। उन्हें सर्व पापोंसे अपनी आत्माको सम्पूर्ण मुक्त रखना होता। उन्हें अपना जीवन बड़ा ही सादा और

१—उववाई सूत्र : सू० ३४;
दसवैकालिक सूत्र : अ० ४ : १८

२—दसवैकालिक सूत्र : अ० ४ : १

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ४ : १

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ४ : २-६

ऋजु रखना होता था। वे आजीवन स्नान नहीं करते थे[1]। वे हजामत नहीं करवा सकते थे। उन्हें अपने केश हाथोंसे लोंचने पड़ते[2]। उबटन, तेल, विलेपन, गन्ध, माल्य और विभूषा उनके लिए वर्ज्य थे[3]। वे आरसीका उपयोग नहीं कर सकते थे[4]। वे किसी प्रकारकी सवारीका उपयोग नहीं कर सकते थे—उन्हें पैदल यात्रा करनी होती थी। वे पैरोंमें जूते नहीं पहन सकते, सिर पर छत्र नही रख सकते[5], पंखेसे पवन नहीं ले सकते थे। खटिया, पलग, आरामकुर्सी पर वे सो-बैठ नहीं सकते थे[6]। आंखोंमें अंजन डालना, दांतोंमें मिस्सी लगाना या वस्त्रोंको सुगन्ध देना मना था[7]। ऐसा स्वावलम्बी सादा जीवन उनके लिए अनिवार्य-जरूरी था। उन्हें लघु—हल्का होकर रहना होता।

वे किसी प्रकारकी सम्पत्ति नहीं रख सकते थे[8]; मठ, मन्दिर, घाट नहीं बनवा सकते थे[9]। गृहस्थोके खाली मकान मांगकर रहना

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : २; अ० ६ : ८, ६२, ६३

२—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ७२, ७३

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : २, ३, ५, ९; अ० ६ : ८, ६४; सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : १३

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ३

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ४; सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : १८

६—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ५; अ० ६ : ८, ५४, ५५; सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : २१

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ९

८—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १३, १९; अ० १०, : २९-३०

९—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : ८, ९

होता[१]। वे किसी प्रकारका कारबार, वाणिज्य-व्यापार नहीं कर सकते थे[२]। वे भौतिक विद्याओंसे आजीविका नहीं कर सकते थे[३]।

उन्हें भिक्षा-द्वारा आजीविका करनी होती; दत्तपान भोजन प्राप्त कर शरीर-निर्वाह करना होता[४]। गृहस्थोंके घर स्वभाविक तौर पर पारिवारिक व्यवहारके लिए जो भोजन बनता, उसकी किसीको कष्ट दिये बिना गौवृत्ति व मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा करनी पड़ती[५]। साधु अपने लिए कुछ नहीं बनवा सकते थे। उनके लिए भोजन नहीं बन सकता था। साधुको उद्देश्य कर बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहार लेना मना था और अनाचार माना जाता था[६]। वे निमन्त्रण स्वीकार नहीं कर सकते थे, न गृहपात्रमें भोजन कर सकते या जल ही पी सकते थे[७]। निर्जीव और कल्प्य चीजें ही भिक्षामें ले सकते थे।

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : ६

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १४, १५

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १५ : ७; अ० १७ : १८; अ० ८ : १३
  सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २८;
    श्रु० १ अ० ९ : १६

४—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : १६
  उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १५
  दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : १

५—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० १ : ५५, ५६,
  उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १६
  दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : २; अ० १ : १-४

६—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १०, ११, १२,
  दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : ४९; अ० ८ : २३; अ० ३ : २

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : ४९, अ० ३ : २; अ० ३ : ३;
  सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ : २०;

सजीव चीजें वर्ज्य थीं[1]। उन्हें भिक्षा उतनीही लेनी होती, जितनी संयम-निर्वाहार्थ शरीर धारण करनेके लिए जरूरी होती[2]। वे दूसरे दिनके लिए संचय नहीं कर सकते थे[3]; दीन-वृत्तिसे भिक्षा नहीं मांग सकते थे; भाटकी तरह प्रशंसा कर भिक्षा नहीं ले सकते थे। न मिलने पर वे विषाद नहीं कर सकते थे और न न-देनेवालों पर कोप हीं कर सकते थे[4]। सामुदायिक दृष्टिसे—ऊंच, नीच, मध्यम—सब कुलोंसे निर्विशेष भावसे भिक्षा लानी होती। वे स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें दौड़ नहीं लगा सकते थे[5]। जो भिक्षा लाते, वह सबमें बांटकर खानी होती। जो नहीं बांटता, वह पापी श्रमण कहलाता[6]। वे जूठन नहीं छोड़ सकते थे[7]। भिक्षा करते समय अहिंसा

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ७-८

दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : २७; अ० ८ : ६;

अ० ५ उ० २ : १४-२६; अ० ६ : ४८

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १७ अ०; ८ : ११;

सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ८ : २५; श्रु० १ अ० ७ : २९

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : १८-१९; अ० ८ : २४

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ : २८-३१, अ० ८ : २३

सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ७ : २५, २६

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : १४; ५ उ० २ : २७;

अ० १ : ५; अ० ८ : २३;

सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ७ : २३, २४,

६—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : ९४

उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १७ : ११

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ : १०

के नियमोंपर उन्हें दृष्टि रखनी होती थी[१]। वे कभी भी शराब आदि मादक पदार्थ ग्रहण नहीं कर सकते थे। मद्य-मांस वर्जित था[२]।

उन्हें चलनेमे बड़ी सावधानी रखनी होती, चलते समय चार हाथ प्रमाण भूमिको देखते हुए उपयोगपूर्वक चलना होता[३]।

वे निरवद्य, मधुर, संयत, परिमितसत्य भाषा ही बोल सकते[४]। अपनी हाजतोंको पूरी करनेके लिए वे पाखानों-पेशाबघरोंका उपयोग नहीं कर सकते थे, और वस्तीसे दूर एकान्त स्थलमें उन्हें अपनी हाजतें पूरी करनी होतीं। उन्हें श्लेष्म-खँखार आदि दूर करनेमें विशेष नियमोंका ध्यान रखना पड़ता था[५]। अपनी चीजोंको उन्हें झाड़-पोंछकर रखना होता[६]। पारिभाषिक शब्दोंमें कहें, तो उन्हें ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिका सम्यक् प्रकार पालन करना होता था[७]। उन्हें अपना जीवन निर्मल और निष्पाप रखना होता था।

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : ३-५, ८, १८, २०, २१, २४, २५. २९-३७, ३९-४२, ४७-५४, ५७-७८;
अ० ५ उ० २ : ७, १०-१२; अ० ८ : २२;
सूत्रकृतांग : श्रु० १ : अ० ९ : १९

२—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ : उ० २ : ३८-४०;
सूत्रकृतांग : श्रु० : २ अ० २ : ७२

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : ७, ८

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ७ : ३; उत्तराध्ययन : अ० २४ : ९-१०

५—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : १५-१८

६—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : १३-१४

७—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४

जो अपनेमें महाव्रतोंको ग्रहण करनेका सामर्थ्य नहीं पाते, वे आदर्शमें विश्वास रखते हुए स्थूल व्रतोंका पालन करते। उन्हें बारह व्रतोंका पालन करना होता। उनकी प्रतिज्ञाओंमें स्थूल हिंसा-त्याग, स्थूल झूठ-त्याग, स्थूल चोरी-त्याग, स्वदार-संतोष,—परदार-त्याग, स्थूल परिग्रह-त्याग, दिक्मर्यादा, उपभोग-परिभोग परिमाण, अपध्यानादि अनर्थदण्ड-त्याग, सामायिक— प्रार्थना, पोषधोपवास—ब्रह्मचर्यपूर्वक उपवास और अतिथिसंविभाग—इन १२ व्रतोंका समावेश होता था[1]। व्रतोंकी अपेक्षासे श्रमणोपासकका जीवन धार्मिक माना जाता और अव्रतकी अपेक्षासे अधार्मिक। इसी कारण श्रमणोपासकके जीवनको मिश्रपक्षी—धर्माधर्मी, बालपण्डित कहा गया है। इन व्रतोंके स्थूल होनेसे व्रतकी मर्यादाके बाहर कितनी ही छूटें रह जातीं थीं। ये छूटें जीवनका अधर्म पक्ष मानी जातीं—आदर्श-पालनकी आत्मशक्तिके अभावमें रखी हुई मानी जाती। जो इन छूटोंका जितना कम करता, वह आदर्शके उतना ही नजदीक समझा जाता था[2]।

जो सम्पूर्ण व्रती थे, वे श्रमण, श्रमणी, और जो स्थूल व्रती थे, वे उपासक-उपासिका व श्रावक-श्राविका कहलाते। श्रमण-श्रमणी धर्म उपदेश देते, उपासक श्रवणकर स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर बढ़नेका प्रयास करते। श्रमण आदर्श-स्तम्भ थे। श्रावक आदर्शस्तम्भके प्रकाशमें चलते। श्रमण-श्रमणी उपासक-उपासिकाओसे किसी प्रकारकी अनु-

---

१—औपपातिक सूत्र : सू० ३४;

उपासकदशा सूत्र : अ० १ : १२

२—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ६०, ७७, ७८

श्रु० २ अ० ४ : ३-१०

चित सेवा, लाभ नहीं उठा सकते थे। न उपासक-उपासिकाएं धर्म-गुरुके अतिरिक्त अन्य किसी तरहका सम्बन्ध श्रमण-श्रमणीके साथ रख सकते थे। दोनोंको एक दूसरेकी धर्मभावनाओं और आदर्शोंका पूर्ण ख्याल रखना पड़ता। कोई अपनी मर्यादाओंका उल्लंघन कर स्वेच्छाचारी नहीं बन सकता था।

(४) विनय : संघका अनुशासन विनय-प्रधान था। संघमें आचार्य प्रधान नियामक—शास्ता—माना जाता था। "जैसे अग्नि-होत्री ब्राह्मण नाना आहुति और मन्त्र-पदसे अग्निको निरन्तर अभि-षिक्त करता हुआ नमस्कार करता रहता है, वैसे ही शिष्य आचार्यकी उपासना करता रहे[१]।" यह भगवान्‌का मूल व्यवस्था-नियम था। आचार्य वयमें छोटा भी क्यों न हो, बहुश्रुत न भी क्यों न हो, सब श्रमण-श्रमणी, उपासक-उपासिकाएं उन्हें वन्दन करें, उनका आदर-सत्कार और बहुमान रखें[२]। "सक्कारए सिरसा पञ्जलीओ, कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं[३]।"

भगवान्‌ने कहा था :—

नीयं सिज्जं गइं ठाणं नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वन्दिज्जा, नीयं कुज्जा य अञ्जलिं[४]॥

शिष्य गुरुसे नीची शय्या करे, पीछे चले, नीचे खड़ा रहे, नीचे आसनपर बैठे, नीचे झुककर पाद-वन्दना करे और अञ्जलि चढ़ाये।

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० १ : ११
२—दसवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० १ : २,३
३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० १ : १२
४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० २ : १७

भगवान्‌ने कहा था—"जो आचार्यका विनय करते हैं, उनकी शिक्षा उसी तरह फलती-फूलती है, जिस तरह जलसे सींचा जाता हुआ पौधा[1]।" "जो आचार्यका विनय नहीं करता, उसके गुण उसी तरह भस्म हो जाते हैं, जिस तरह अग्निसे काष्ठराजि[2]।" भगवान्‌ने विनयके—परस्पर व्यवहारके—अनेक नियम दिये है, जो उत्तराध्ययन और दसवैकालिक सूत्रमे संग्रहीत है[3]। विनयको भगवान्‌ने उत्तम तप कहा है[4]। संघमें ज्येष्ठता-कनिष्ठता दीक्षा-पर्यायके अनुसार होती थी और इस कारण बादमें दीक्षित स्थविर साधु भी पहले दीक्षित अल्पवयस्क मुनिको नमस्कार करता था[5]। उपासक-उपासिकाएं साधु-साध्वियोंको वन्दना करते साधु-साध्वियोंको गृहस्थोंकी वन्दना नहीं करनी होती थी। वे केवल वन्दना स्वीकार करते।

किसी भी कार्यको करनेके लिए पहले आचार्यकी आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती। यहां तक कि भिक्षाके लिए भी आचार्यकी आज्ञा लेकर ही जाना पड़ता। जो भी भिक्षा प्राप्त होती, वह आचार्यको दिखानी पड़ती। प्रधान शिष्य इन्द्रभूतिको भी ऐसा करते पाते हैं[6]। इससे यह स्पष्ट है कि विनय-नियमोंका बड़ी कठोरतासे पालन होता था और उनके पालनमें अपवादको ज्यों-त्यों स्थान नहीं था।

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० २ : १२

२—दसवैकालिक सूत्र : अ० ९ उ० १ : ३

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १

दसवैकालिक सूत्र : अ० ९

४—भगवती सूत्र : श० २५ उ० ७ : ८

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ उ० ३ : ३

६—भगवती सूत्र : श० २ उ० ५ : १९, २२;

(५) शील: परस्परमें शील और सदाचारका ही नाता था। शील और सदाचारमें कमी आने पर साधु-साध्वी गणसे अलग कर दिये जाते थे[1]। शिष्योंको भी अधिकार दिया गया था कि असदाचारी, दुःशील आचार्यको परित्यक्त कर सकें। संघकी नींव सदाचार, उपासना और गुण-पूजा पर अवस्थित थी। "भिक्षुक हो या गृहस्थ, जो सुव्रती होता है, वही दिव्यगति प्राप्त करता है[2]।" यह भगवानकी शाश्वत शिक्षा थी। "दुःशील साधु नरकसे नहीं बच सकता और गृहवासमें बसता हुआ भी सुव्रती शिक्षा-सम्पन्न हो तो देवलोक प्राप्त करता है[3]।" "गृहस्थ संयममें श्रेष्ठ हो सकता है, पर सुशील साधु गृहस्थ संयमीसे हमेशा उत्तम होता है[4]।" उपर्युक्त शिक्षामें भगवान्‌ने शीलकी महिमा बतलाई है और गृहस्थ-साधु सबको दुःशील छोड उत्तम से उत्तम संयमकी ओर आकृष्ट किया है। संयम और तपकी उपासना ही संघकी उत्तम साधना रही।

(६) मैत्री: परस्पर व्यवहारमें मृदुता और मैत्रीभावको बहुत ही उच्च स्थान दिया गया था। साधु, श्रावक, साध्वी, श्राविका—सबको मैत्री-भावनाका उपदेश रात-दिन मिलता था। "सबको आत्माके समान मानो।" "सब भूतोंके प्रति मैत्रीभाव रक्खो।" परस्पर मनोमालिन्यको इन्हीं भावोंकी उपासना द्वारा दूर रखा जाता है। आगममें ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जबकि मैत्रीभावनाके प्रसार

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २७ : १०, १६

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ५ : २२

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ५ : २२, २४

४—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ५ : २०

द्वारा उत्तमार्थ साधा गया। अतिमुक्तक नामक एक बालवयस्क कुमार साधु थे। एक बार उन्होंने वर्षा के जलको पालसे बांध, उसमें अपने पात्रको तिरा दिया। स्थविर साधुओंने पूछा—"भदन्त! आपका कुमार श्रमण अतिमुक्तक कितने भव करनेके बाद सिद्ध होगा?" भगवान् बोले—"वह इस भवको पूरा करके ही सिद्ध होगा। तुम लोग उसकी अवहेलना, निन्दा, तिरस्कार और अपमान मत करो, पर अम्लानभावसे उसकी सहायता करो, सम्भाल करो और सेवा करो[1]।" इस तरह मृदुभाव—मैत्रीभावको जगा भगवान् संघमें बड़ा प्रेम और सौहार्द रखाते। ऐसी ही एक दूसरी घटना मिलती है। एक बार शंख नामक एक श्रमणोपासकने अपने मित्रोंके साथ सहल करनेका तय किया। निश्चयानुसार मित्रोंने भोजन बना डाला। पर बादमें शंखने यह सोच कि इस तरह खान-पान, मौज-शौक करना श्रेयस्कर नहीं ब्रह्मचर्य रख, उपवास करते हुए पोषध ठान दिया। दूसरे दिन सुबह श्रमणोपासकोंने उसे उलाहना दिया। भगवान् बोले—"आर्यो! तुमलोग शंखकी हीला, निन्दा, अपमान मत करो; कारण वह धर्ममें प्रीतिवाला और दृढ़ है। उसने प्रमाद और निद्राको त्याग धर्म जागरिका की है।" इसके बाद भगवान्ने बतलाया कि क्रोध करनेवालेकी कैसी दुर्गति होती है। श्रमणोपासकोंने शंखसे क्षमा मांगी[2]। हृदय-शुद्धि करानेका एक तीसरा प्रसंग इस प्रकार है—श्रेणिकके पुत्र मेघकुमारने, दीक्षा ली। रातमें उसकी शय्या अन्तमें होनेसे श्रमणोंके आने-जाने और उनके पैरोंकी धूल उसके शरीर पर

१—भगवती सूत्र : श० ५ उ० ४ : ११

२—भगवती सूत्र : श० १२ उ० १

गिरनेके कारण उसे नींद न आई। खेद-खिन्न हो प्रातः होते ही उसने घर चले जानेकी ठान ली। सुबह भगवान्ने मेघकुमारको प्रतिबोधित करते हुए कहा—"हे मेघ! पिछले भवमें तू हाथी था। वनमें दावानल सुलग गया, जंगलके पशु एक जगह एकत्रित हो गये। तू भी उनमें था। तेरे शरीरमें खुजलाहट होने लगी। तूने शरीर खुजलानेके लिए एक पैर उंचा उठाया। भीड़के दबावसे एक खरगोश उस पैरके स्थानमें आ घुसा। पैर रखनेका स्थान न रहा। कहीं खरगोश न मारा जाय इस भयसे तूने अपना पैर अधर रखा। इस तरह २॥ दिन तक तू तीन पैर पर ही खड़ा रहा। दावानल बुझा। खरगोश हटा। तूने पैर फैला जमीन पर रखनेकी चेष्टा की। तीन पैरके बल खड़ा रहनेसे तेरा शरीर अकड़ गया और वहीं जमीन पर तेरी मृत्यु हुई। हे मेघ! तूने पशु योनियोंमें इतनी सहनशीलता—इतना समभाव दिखलाया; अब तो तुझमें अधिक बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम और बिवेक है। भोग-विलास छोड़ तूने मेरे पास दीक्षा ली है। श्रमणोंके आवागमनसे पड़ती धूलके कारण तू इतना व्याकुल हो गया?" मेघ मारका मन शान्त हुआ। उसकी आंखोंमें हर्षाश्रु छा गये। वह बोला—"भदन्त! आजसे मेरा यह शरीर श्रमणोंकी सेवामें समर्पित है।" भगवान्ने उसे फिरसे प्रव्रज्या दी और वह किस तरह संयममे सावधान रहे यह बतलाया[1]। भगवान् प्रेमभाव और परस्पर सद्भावना को किस तरह स्थापित करते, यह उसका ज्वलंत उदाहरण है। मनमें जहां थोड़ासा भी खटास देखते उसे दूर करते और मैत्रीभावकी ऊर्मियां भर देते। एक अन्य घटना तो और भी हृदय-स्पर्शी है। एक बारका

१—ज्ञाताधर्मकथा : अ० १

प्रसंग है कि महाशतक नामक एक प्रतिमाधारी उपासक संलेषणा व्रत धारण कर पौषधशालामें धर्मध्यान कर रहा था। उसकी पत्नी रेवती इतनी क्रूर थी कि उसने अपने बारह सौतोंको मौतके घाट उतार दिया था। वह गौ मांस और मदिरा तकका खान-पान करती। एक दिन मदोन्मत्त हो, वह पौषधशालामें महाशतकके पास आई। वस्त्र गिरा दिए और विषयांध हो कहने लगी, "यदि तुमने मेरे साथ भोग नहीं भोगा तो स्वर्ग मोक्षके सुख लेकर क्या होगा?" महाशतकको क्रोध चढ़ आया। वह बोला—"अप्रार्थकी प्रार्थना करनेवाली! काली चतुर्दशीकी जन्मी! लज्जाहीन! तू सात दिनके अन्दर रोगाक्रान्त हो मृत्यु प्राप्त कर नरकमें उत्पन्न होगी।" रेवती भयभीत हो गई। "न मालूम मुझे कैसी मौत मरना होगा।" भगवान्ने गौतमसे कहा—"जाओ गौतम! गाथापतिसे कहो 'श्रमणोपासकको खास कर अपश्चिम मरणान्तिक संलेषणा करनेवालेको सत्य होने पर भी अनिष्टकारी, अप्रिय, और अमनोज्ञ वचन कहना नहीं कलपता। उसने रेवतीको संतापकारी वचन कहे हैं उसकी वह आलोचना करे[1]।" गौ मांस खानेवाली, मदिरा पीनेवाली स्त्रीके प्रति भी उदार भावनाका स्रोत बहा भगवान् ने आलोचना करवाई। परस्पर व्यवहारमें जिसकी त्रुटि होती उसीको क्षमा-याचनार्थ कहते। साधु और श्रावक इनमें कोई भेद नहीं रखते थे। अपराधी साधु भी गृहस्थ उपासकसे क्षमा मांगनेका पात्र होता। एक बार प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम तकको भगवान्ने आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना करनेके लिए भेजा[2] था।

१—उवासगदसाओ : अ० ८

२—उपासकदसाओ : अ० १

(७) समभाव—आध्यात्मिक क्षेत्रमें सबकी समानताके सिद्धान्तको संघ-सञ्चालनमें बड़ा उच्च स्थान दिया गया था। धनी निर्धनका अन्तर नहीं था। आर्य अनार्यका अन्तर नहीं माना जाता था। वर्णभेद, जाति भेद, गौत्र भेद, रूप भेद, शरीर भेदको स्थान नहीं था। सब प्रव्रजित हो सकते थे[१]। कुल मद, वर्ण मदको जघन्य और त्याज्य माना गया था। 'जातिकी कोई विशेषता नहीं होती, संयम और तपकी ही विशेषता होती है'—इस सिद्धान्तका व्यापक प्रचार था। 'जाति आदिका मद करनेवाले पुरुषकी जाति या कुल उसकी रक्षा नहीं कर सकते। अच्छी तरह सेवन किए हुए ज्ञान और चारित्रके सिवाय कोई भी पदार्थ जीवकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं।' 'जो गौरवी और श्लोककामी होता है वह निष्किञ्चन और रूक्षभोजी होने पर भी अज्ञानी है। वह पुनः-पुनः संसार भ्रमण करेगा।' 'धीर पुरुष मद स्थानोंको अलग करे। जो धर्मी इनका सेवन नहीं करते वे सब गौत्रोंसे छुटे हुए महर्षि उच्च अगौत्र गति मोक्षको पाते हैं।' 'मुनि गौत्र या दूसरी बातोंका मद न करें।' 'परनिन्दा पापकारिणी होती है यह जाने। 'यदि एक अनायक—स्वयं प्रभु—चक्रवर्ती आदि हो और दूसरा दासका दास हो तो भी संयम मार्गमें आनेके बाद परस्पर व्यवहारमें लज्जा नहीं करनी चाहिए। सदा समभावसे व्यवहार करना चाहिए[२]।

१—सूत्रकृतांग सूत्र : श्रु० २ अ० १ : ३५
उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १२ : १

२—सूत्रकृतांग श्रु० १ अ० १३ : १०, १५,
उत्तराध्ययन सूत्र १२ : ३७

स्त्री पुरुष दोनोंको धर्म पालनका समान हक था। बुद्धके संघमें भी श्रमणियां थीं पर बुद्धने अपने शिष्य आनन्दके बहुत हट करनेके बाद ही स्त्रियोंके लिए प्रव्रज्याका मार्ग खोला था। वे बराबर कहते रहे—"मत रुचै कि स्त्रियां भी तथागतके दिखाए धर्म—विनयमें घरसे बेघर हो प्रव्रज्या पावैं।" स्त्रियोंके लिए आठ गुरु धर्म—संकीर्ण शर्तें थी। जो स्त्रियां इन्हें स्वीकार करती वे ही प्रव्रज्या पा सकती। अन्त तक उनकी यह धारणा बनी रही कि स्त्रियोंको प्रव्रजित करनेसे संघकी आयुमें क्षीणता आ गई। "यदि तथागत प्रवेदित धर्म—विनयमें स्त्रियां प्रव्रज्या न पाती तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता पर अब वह पांच सौ वर्ष ही ठहरेगा[1]।" भगवान् वर्द्धमानने अपने संघमें श्रमण-श्रमणियोंका समान अधिकार रखा और स्त्रियोंकी पवित्र रहनेकी शक्तिमें कभी शंकाको स्थान नहीं दिया। साधु-साध्वियां दोनोंके लिए सूक्ष्म ब्रह्मचर्यके नियम दिए। संघमें श्रमणियोंकी बहुत बड़ी संख्या होने पर भी भ्रष्टाचार जरा भी नहीं फल पाया। अत्यन्त कुशलता और दृढ़ अनुशासनशीलतासे ही यह सम्भव था।

(८) **प्रमोद:**—मैत्री भावनाके प्रचार द्वारा जिस तरह सहृदयता को कायम रखा जाता था उसी तरह प्रमोद भावनाके विकास द्वारा संघमें नवीन जीवन शक्तिको सदा संचारित रखा जाता था। जिस साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकामें गुण देखते, भगवान् उसकी प्रशंसा सबके सामने कर गुणमें आनन्द भावना—प्रमोद भावनाको जागृत करते। ऐसे प्रसंग मिलते हैं जब कि गृहस्थ उपासकको आदर्श बतला

१—विनय पिटक (भिक्षुणी-स्कंधक) पृ० ५१९-५२१,

कर श्रमण-श्रमणियोंको उसके जीवनसे शिक्षा ग्रहण करनेका उपदेश भगवान्‌ने दिया। एकबार कामदेव नामक श्रमणोपासककी प्रशंसा करते हुए श्रमण-श्रमणियोंसे भगवान्‌ने कहा:—"घरमें बसते हुए इस श्रमणोपासकने देव, मनुष्य और पशुकृत उपसर्गोंको बड़े समभावसे सहन करते हुए व्रत पालनमें इतनी दृढ़ता दिखलाई, फिर श्रमण-श्रमणियोंको तो अपना आचार—चरित्र सुरक्षित रखनेके लिए हमेशा चौकस रहना चाहिए। जरा भी चलित नहीं होना चाहिये और जो उपसर्ग उपस्थित हों उन्हें सहन करना चाहिए[1]।" इसी तरह एक बार अन्य तीर्थकोंको जैन रहस्यसे भरपूर, युक्तिपुरस्सर सुन्दर उत्तर देनेके लिए भगवान्‌ने मद्रुक और कुंडकौलिक श्रावककी मुक्त कंठसे प्रशंसा की थी[2]। इस प्रमोद भावना—दूसरोंके गुणोंमें मुदिता-भावना के प्रसारसे संघमें एक बड़ी दृढ़ शक्ति पैदा हो गई थी और सद्‌गुणोंकी निशदिन वृद्धि होती जाती थी।

पार्श्वनाथके श्रमण और एकीकरण

हम ऊपर एक जगह कह आये हैं कि भगवान्‌के माता-पिता पार्श्वनाथके श्रमणोंके उपासक थे। जब भगवान् एक तीर्थङ्करके रूपमें धर्म प्रचार करने लगे उस समय भी पार्श्वनाथके अनुयायी साधु व उनके संघ विद्यमान थे। एक बार भगवान्‌के राजगृह पधारनेके अवसर पर पार्श्वनाथके अनुयायी ५०० साधुओंका एक संघ तुंगिका

१—उपासगदसा सूत्र : अ० २ : २९, ३०, ३१

२—भगवती सूत्र श० १८ उ० ७ : १५,

उपासकदशा सूत्र अ० ६ : १०, ११, १२

नगरीमें आया था[1]। तुंगिका नगरीमें जैन गृहस्थ बहुत बड़ी संख्यामें रहते थे[2] और वे सब पार्श्वनाथके श्रमणोंके अनुयायी थे, ऐसा वर्णनसे प्रतीत होता है। पार्श्वनाथके वंशके कालास्यवेषिपुत्र नामक साधुका श्रमण महावीरके स्थविरोंके साथ सम्पर्क हुआ था, ऐसा भी उल्लेख मिलता है[3]। पार्श्वनाथके शिष्य केशीश्रमणके संघका उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्रमें आया है[4]। वाणिज्य ग्राममें जिन गांगेय श्रमणके साथ भगवान्का प्रश्नोत्तर हुआ था वे भी पार्श्वपात्य ही थे[5]। निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्रका उल्लेख सूत्रकृतांगमें मिलता है[6]। इन सबसे प्रकट होता है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके अनेक श्रमण उस समय विद्यमान थे।

पार्श्वपात्य निर्ग्रन्थ श्रमणोंके प्रति महावीर और उनके श्रमणोंका बहुमान ही देखा जाता है। तुंगिका नगरीमें जिन ५०० श्रमणोंके आनेकी बात है उनका वर्णन बड़े ही आदरपूर्ण और प्रशंसात्मक शब्दोंमें है और उन्हें विनय, ज्ञान, दर्शन और चारित्रयुक्त बताया गया है। उन्हें विशेष ज्ञानी भी कहा गया है। ऐसे श्रमण ब्राह्मणोंकी पर्युपासनाका फल भगवान्ने सिद्धि प्राप्ति तक बतलाया है[7]। इससे प्रतीत होता है कि पार्श्वपात्य साधु और निजके साधुओंमें भगवान् कोई मूल

१—भगवती सूत्र : श० २ उ० ५ : १३

२—भगवती सूत्र : श० २ उ० ५ : ११-१२

३—भगवती सूत्र : श० १ उ० ९ : १५

४—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २३ : १-३

५—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४

६—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० ७ : ४

७—भगवती सू० : श० २ उ० ५ : १३, २३, २५

अन्तर नहीं समझते थे। पूर्वोक्त श्रमणोंमें अनेक बहुश्रुत और श्रुतज्ञानी थे[1]। एकबार गणधर गौतम स्वयं पार्श्वपात्य केशीकुमारके पास गये थे और ज्येष्ठ तीर्थङ्करके साधुओंके पास उनका जाना ही उन्हें ठीक प्रतीत हुआ था[2]। यह भी बहुमानका ही परिचायक था। इससे मालूम होता है कि भगवान् पार्श्वनाथको अपना ज्येष्ठ तीर्थङ्कर मानते थे।

केशी और गौतमके परस्पर सम्मेलनके बाद तो दोनों संघोंके शामिल होनेका मार्ग ही खुल गया। इस सम्मेलनका विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ में मिलता है, जिसका सार इस प्रकार है:—

"लोकमें प्रदीप समान जिन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके विद्या और आचरणमें पारङ्गत केशीकुमार नामक एक महायशस्वी श्रमण थे। वे एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते शिष्य संघके साथ श्रावस्ती नगरीमें आ पहुँचे और उस नगरके तिंदुक नामक उद्यानमें प्रासुक शय्या-संस्तारक ग्रहण कर ठहरे। उसी अर्समें लोकविश्रुत धर्मतीर्थङ्कर वर्द्धमानके महायशस्वी और विद्या तथा आचारमें पारङ्गत शिष्य गौतम भी शिष्य समुदायके साथ उसी नगरमें आ पहुंचे और कोष्ठक उद्यानमें ठहरे (१-८)।

"उस समय उन दोनोंके शिष्य संघमें यह चिन्ता हुई: 'वर्द्धमान द्वारा उपदिष्ट पांच शिक्षावाला यह धर्म कैसा और महामुनि पार्श्व द्वारा उपदिष्ट यह चार यामवाला धर्म कैसा? और अचेलक—वस्त्र

१—भगवती सू० : श० २ उ० ५ : १३

उत्तराध्ययन : अ० २३ : ३

२—उत्तराध्ययन सू० : अ० १३ : १५

रहित रहनेकी वर्द्धमानकी आचार विधि कैसी और आंतर तथा उत्तरीय वस्त्र पहननेकी पार्श्वकी आचार विधि कैसी ? एक ही कार्यके लिए उद्यत इन दोनोंमें इस अन्तरका क्या कारण ?' (८-१३)।

"अपने-अपने शिष्योंके विस्मयको जानकर केशी और गौतम दोनों ने परस्पर मिलनेका विचार किया (१४)।

"पार्श्वनाथके ज्येष्ठ कुलको देखकर विनयमार्गके जानकार गौतम, शिष्य संघसे परावृत हो, तिंदुक उद्यानमें आये। गौतम स्वामीको आते देख केशीकुमार श्रमणने उनका उचित सत्कार और सम्मान किया और उनके बैठनेके लिए शीघ्र ही पलाल और कुशादि बिछा दिये। इस अवसर पर अनेक अन्यतीर्थी और गृहस्थ कौतूहलवश एकत्र हो गये। (१५-१९)

"केशीकुमार बोले : 'हे महाभाग ! मैं कुछ पूछना चाहता हूं'। गौतम बोले : 'भदंत आपकी जैसी इच्छा'। इस तरह अनुमति मांग केशीने पांच याम चार यामके अन्तरका कारण पूछा और बोले : 'क्या इस तरह दो प्रकारके धर्मसे आपको भ्रम नहीं होता ?' (२१-२४)

"गौतम बोले : 'प्रज्ञा द्वारा ही धर्मतत्त्वका ज्ञान किया जा सकता है। आरम्भके श्रमण ऋजुजड़ अर्थात् सरल पर जड़ थे। उनके लिए धर्म समझना मुश्किल पर पालन करना सरल था। बादके श्रमण वक्रजड़ थे। उनके लिए धर्म समझना सरल था पर पालन करना कठिन। मध्यवाले श्रमण ऋजु प्रज्ञावाले थे। उनके लिए धर्मका समझना और पालन करना दोनों सरल थे। इसलिए पहले दो को पांच महाव्रत स्पष्ट रूपसे बतलाने पड़े और ऋजुप्रज्ञावालोंको ब्रह्मचर्य अलग न बतलाते हुए चार याम कहे। दो प्रकारके धर्मका कारण यही है'। (२५-२७)

"केशी बोले : 'मेरा दूसरा संशय यह है कि वर्द्धमानका धर्म अचेलक कैसे और महामुनि पार्श्वका आंतर तथा उत्तरीय वस्त्रवाला कैसे ?' (२९-३०)

"गौतम बोले: 'अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा समझकर दोनों तीर्थङ्करों ने धर्म साधनके लिए जुदे-जुदे विधान दिए हैं। निश्चय नयसे तो ज्ञान, दर्शन, चरित्र ही मोक्षके साधन हैं। वाह्यवेश तो परिचयके लिए है तथा साधुको अपने लिंगकी सतत् याद दिलानेके लिए है, ताकि वह अपने धर्ममें दृढ़ रहे।' (३१-३३)

"यह सुनकर केशी बोले : 'हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा सुन्दर है। मेरे संशय छिन्न हुए।" (२८, ३४)

इसके बाद श्रमण महावीरके आध्यात्मिक विचारोंको पार्श्वके आध्यात्मिक विचारोंके साथ मिलाकर देखनेकी दृष्टिसे केशीकुमारने कितने ही गूढ़ प्रश्न किये। गौतमने उनका जो जवाब दिया उससे दोनों संघोंकी आध्यात्मिक विचारसरणिमें केशी श्रमणको कोई अन्तर नहीं दिखलाई दिया और उनके सारे सशय छिन्न हुए। (३५-८५)

इस तरह संशय छिन्न होने पर घोर पराक्रमी केशीने महायशस्वी गौतमको मस्तकसे नमस्कार कर चरम तीर्थङ्करके सुखावह पांच महाव्रतवाले धर्मको स्वीकार किया (८६, ८७)

उपर्युक्त प्रसंगसे स्पष्ट है कि केशीका संघ महावीरके संघके अन्तर्भुक्त हो गया। उल्लेख है कि केशी और गौतमके संघको परस्पर संघटित देखकर परिषद् तोषित हुई[१]। केशीके इस विशाल संघके

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २३ : ८९

अतिरिक्त और भी अनेक पार्श्वपात्य साधु थे, यह हम पहले लिख आये हैं। वे भी जैसे-जैसे सम्पर्क हुआ महावीरके श्रमण संघके साथ मिलते गये। गांगेय अणगार और भगवान्‌के बीच वाणिज्यग्राममें अनेक प्रश्नोत्तर हुए। भगवान्‌के उत्तरोंसे उन्हें सर्वज्ञ जान गांगेय उनके श्रमण बने[1]। निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्रको गौतमने समझा, संघमें मिलाया[2]। कालस्यवेषिपुत्रको भगवान्‌के स्थविरोंने संघमें मिलाया[3]। जो संघमें मिलते वे चार महाव्रतोंकी जगह पांच महाव्रत और प्रतिदिन प्रतिक्रमण करनेके नियम ग्रहण करते[4]।

इस प्रकार दोनों संघोंके मिल जानेसे महावीरका संघ और भी बलवान् और सुदृढ़ हो गया। इस परस्पर एकीकरणसे महावीरके संघमें प्राचीन पूर्वोंका ज्ञान रखनेवाले श्रमण भी कुछ आये होंगे। इस तरह ज्ञान बल और अनुभव बलकी दृष्टिसे भी संघको बड़ी शक्ति मिली होगी। प्राचीनताके मोहवश नवीनताकी उपेक्षाका जो भाव प्राय: रहता है, वह दूर हो गया और इससे प्रचार क्षेत्र और भी उन्मुक्त हो गया। साधु और गृहस्थ उपासकोंकी संख्यामें वृद्धि होना तो स्वाभाविक था। परस्पर एकीकरणमें अनेकान्त दृष्टिका जो प्रयोग हुआ उससे एक बहुत बड़ा आदर्श भी भविष्यके लिए बन गया।

१—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४

२—सूयगडांग सूत्र : श्रु २ अ० ७ : ३९-४०

३—भगवती सूत्र : श० १ उ० ९ : १५;

४—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४

सूयगडांग श्रु० २ अ० ७ : ३९-४०

भगवती सूत्र श० १ उ० ९ : १५

संघका विस्तार

ऐसी सुन्दर और दृढ़ व्यवस्थाके कारण संघकी दिनोदिन वृद्धि ाने लगी। समय पा भगवान् वर्द्धमानके श्रमण श्रमणियोंकी संख्या र्द्ध लाख हो गई जिसमें श्रमणोंकी संख्या १४००० और श्रमणियोंकी ६००० रही। भगवान्के गृहस्थ श्रावकोंकी संख्या १,५९,००० ार उपासिकाओंकी संख्या ३, १८००० हो गई[१]। इतने बड़े संघका चालन कोई साधारण बात न थी। भगवान् अनुपम शास्ता और ायामक थे इसी कारण इतने बड़े संघका इतनी सुव्यवस्थाके साथ चालन करनेमें समर्थ हुए। भगवान्को, महागोप, महासार्थवाह, हाधर्मकथी, महानियामक आदि कहा गया है—इसका कारण यही कि संघ संचालन और संगठनकी उनमें अद्वितीय क्षमता थी। जैन र्म आज भी जीवित है उसका श्रेय चतुर्विध संघकी व्यवस्थाको ही है। ह व्यवस्थाके कारण ही जैनधर्म अनेक झंझावातोंको पारकर जीवित ह सका।

प्रथम संघ-विच्छेदक जमालि

संघ विच्छेद कर महावीरसे अलग होनेवालोंमें जमालि प्रसिद्ध है। ावान्के निन्हवोंमें उसका नाम सर्वप्रथम आता है[२]। जमालिके

—'चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहं सद्धिं'—
औपपातिक सूत्र
कल्पसूत्र : १३४-३७;
आवश्यक निर्युक्ति गा० २५९; २६३

—स्थानांग सूत्र : स्था० ७;
औपपातिक सूत्र :
विशेषावश्यक गा० २३०६–७;

विषयमें भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ में जो विस्तृत वर्णन मिलता है, उसका सारांश इस प्रकार है:—

जमालि क्षत्रियकुंडग्रामका क्षत्रिय कुमार था। वह महावीरकी बड़ी बहिन सुदर्शनाका पुत्र और महावीरका भागिनेय था। महावीरकी पुत्रीका विवाह भी उसीके साथ हुआ था[1]। उसने ५०० पुरुषोंके साथ दीक्षा ली थी। एक बार उसने ५०० शिष्योंके साथ बाहरके देशोंमें बिहार करनेकी अनुमति मांगी। भगवान्ने उसकी बातको आदर नहीं दिया, न स्वीकार किया और मौन ही रहे। बार-बार अनुरोध करने पर भी जब भगवान् मौन ही रहे तब जमालि अपने आप पांच सौ साधुओंके साथ बाहरके देशोंकी ओर चल पड़ा।

एक बार जमालि साधुओंके साथ श्रावस्तीके कोष्ठक चैत्यमें आकर ठहरा। वहां उसके शरीरमें बड़ी व्याधि उत्पन्न हुई। पित्त ज्वरके कारण शरीरमें दाह उत्पन्न हो गया। उसने साधुओंको बिस्तर बिछानेके लिए कहा। जमालि वेदनासे व्याकुल था। वह धैर्य खो बैठा और तुरन्त हा साधुओंको पूछने लगा—'क्या बिस्तर बिछा दिया?' शिष्योंने कहा 'बिछा दिया'। जमालि लेटने गया तो देखता है कि बिस्तर बिछाया जा रहा है। बिस्तर पूरा बिछे विना जमालि सो न सका। जमालि सोचने लगा 'भगवान् महावीर तो **क्रियमाण कृत** बतलाते हैं। पर यह तो स्पष्ट है कि बिस्तर बिछाया जा रहा है, उसको बिछाया गया नहीं कहा जा सकता।' जमालिने अन्य श्रमण निर्ग्रन्थोंको बुला महावीरके सिद्धान्तकी भूल बतलायी। कइयोंने यह बात मानी। कइयोंने नहीं। इस तरह कई जमालिको छोड़ महावीर

१—विशेषावश्यक : गा० २३०७

के पास चले आये। निरोग होने पर जमालि चम्पा नगरी गया। भगवान् महावीर भी उस समय वहीं विचर रहे थे। भगवान्‌के पास जा जमालि कहने लगा—'आपके अनेक शिष्य अभी तक छद्‌मस्थ ही हैं परन्तु मैं तो उत्पन्न ज्ञान और दर्शनको धारण करनेवाला अर्हत्, जिन और केवली हूँ।' इस पर गौतमने प्रश्न कर उसे निरुत्तर किया। भगवान् बोले—'हे जमालि ! तू तो गौतमके प्रश्नोंका उत्तर ही न दे सका। मेरे अनेक छद्‌मस्थ शिष्य मेरी तरह ही गौतमके प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ हैं फिर भी वे तेरी तरह ऐसा नहीं कहते कि हम सर्वज्ञ और जिन हैं।'

इसके बाद जमालि फिर दूसरी बार हमेशाके लिए निकल पड़ा। अन्तिम बार अलग होते समय जमालिके साथ कितने साधु रहे—इसका उल्लेख नहीं मिलता पर यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि उस समय उसके साथ सैकड़ों ही साधु रहे होंगे। उसका वाद 'बहुरत' नामसे प्रसिद्ध हुआ[1]। इससे अनुमान होता है कि महावीरके सिद्धान्तके खण्डनके साथ-साथ उसने एक मतवाद भी दिया।

महावीरके **'क्रियमाण कृत'** सिद्धान्तका अर्थ था जो कार्य शुरू कर दिया वह हो गया। जिस तरह किसीने कपड़ा बुनना शुरू किया तो वह बन गया। उनका कहना था कि अन्तिम क्रिया पहली क्रियाके बिना नहीं हो सकती। पहली क्रियामें कपड़ा बना तभी अन्तिम क्रियामें कपड़ा बना। पहले समयमें यदि कपड़ा नहीं बना तो अन्तिम समयमें भी नहीं बन सकता। काम शुरू होते ही पूरा होता है। एक मनुष्य चोरी करनेके लिए निकलता है। दूसरेके घरमें घुस जाता है

१—विशेषावश्यक सूत्र : गा० २३०६

पर जागरण हो जानेके कारण चोरी नहीं कर पाता। भगवान् महावीरके सिद्धान्तोंके अनुसार जिसने चोरीकी भावना कर ली उसने चोरी भी कर ली। जो चोरीके लिए निकल पड़ा वह चोर हो चुका फिर भले ही वह जागरण हो जानेसे चोरी न कर पाया हो। जमालिका मत था बहुरतवाद, जिसका अर्थ होता है बहु—प्राय: पूरा होने पर पूरा होनेकी रत—संज्ञा हो जिसकी। उसका मत था कि कार्य सम्पूर्ण होने पर ही सम्पूर्ण कहा जा सकता है। अन्तिम क्रिया सिद्ध होने पर ही पहली सार्थक या सफल होती है। चोरी कर चुकने पर ही किसी को चोर कहा जा सकता है।

भगवती सूत्रके उपर्युक्त स्थलमें ही उल्लेख है कि महावीरसे अलग होनेके बाद जमालि असत्यभाव प्रकट करता, मिथ्यात्वके अभिनिवेश द्वारा अपनेको तथा दूसरोंको भ्रान्त करता एवं मिथ्या ज्ञानवाला होकर अनेक वर्षों तक साधु वेशमें रहा।

इससे स्पष्ट है कि जमालि अनेक वर्षों तक महावीरका प्रतिस्पर्धी रहा तथा अपनेको 'सर्वज्ञ' और 'जिन' कहता रहा। उसने महावीर और उनके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके विषयमें अनेक भ्रान्तियां फैलायीं।

इतिहासज्ञोंका कहना है कि जमालिकी दीक्षा केवलज्ञान प्राप्ति के बादके प्रथम चातुर्मासके शेष होनेके बाद हुई थी। अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्तिके प्राय: एक वर्ष बाद हुई थी। ५०० शिष्योंको ले प्रथम बार अलग विहार करनेकी घटना भगवान् महावीरके केवलज्ञानी होनेके बारहवें वर्षमें, श्रावस्तीमें 'बहुरत' वादकी प्ररूपणा १४ वें वर्षमें और चम्पानगरीमें हमेशाके लिये अलग हो जानेकी घटना केवलज्ञानके

१५ वें वर्षमें घटी होगी[१]। जमालिका देहान्त तो महावीरके जीवन कालमें ही हो गया था ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है[२]।

जमालिके साथ उसकी पत्नी (महावीरकी पुत्री) प्रियदर्शना भी १००० साध्वियोंको ले महावीरसे अलग विहार करने लगी थी परन्तु ढंक नामक महावीरके एक कुम्हार उपासकने उसे पुनः प्रतिबोधित किया और वह जमालिका अनुसरण करना छोड़ समस्त साध्वियोंके परिवारके साथ भगवान्‌के पास आ प्रायश्चित्त ले शुद्ध हुई[३]। ऐसा उल्लेख है कि इस घटनाके बाद जमालिके साथ रहे हुए भगवान्‌के अन्य साधु भी उसका साथ छोड़ भगवान्‌के साथ मिल गये[४]। यह घटना जमालि चम्पापुरीमें अन्तिम बार छूटा उसके पहले घटी या बादमें इसका ठीक-ठीक अन्दाज लगाना अभी तो कठिन ही हो रहा है।

प्रतिस्पर्धी गोशालक

गोशालक आजीविक सम्प्रदायका नेता था। भिक्षा और आहारके विषयमें अन्य नियमोंकी अपेक्षा कड़े नियम पालन करनेके कारण ही उसके अनुयायियोंका नाम आजीविक पड़ा मालूम देता है। लोग उपहास्यमें कहते होंगे—ये तो केवल आहार विषयक कड़े नियमोंका पालन करते हैं। इसलिए महज आजीविक हैं। गोशालकको गर्व होगा कि सच्चे ढंगसे कोई आजीविका—भिक्षा करते हैं तो उसके साधु ही। वे ही सम्यक् आजीविक हैं। अतः उपहास्यमें दिये गये इस

१—महावीर कथा : पृ० २६८-२६९, २७३ फुट नोट ३;

विशेषावश्यक : गा० २३०६, महावीर कथा पृ० २७८ फुट नोट

२—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३ : ९१

३—विशेषावश्यक : गा० २३०७

४—उपरोक्त

आजीविक नामकरणको अपने सम्प्रदायकी विशेषताको ठीक-ठीक व्यक्त करनेवाला समझ गोशालकने उसे अपना लिया होगा और खुद भी अपनेको व अपने अनुयायियोंको आजीविक कहने लगा होगा।

बौद्ध ग्रन्थ[1] और जैन आगम[2] दोनोंमें ही आजीविकोंके भिक्षा नियमोंका उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि आजीविक साधुओंके भिक्षा-नियम निर्ग्रन्थ साधुओंके नियमोंसे मिलते-जुलते और उतने ही कठोर थे। कई नियम तो विशेष उग्र और कठिन थे। इससे आजीविक नाम पड़ने या रखनेका अनुमान ठीक ही मालूम देता है।

आजीविक साधु नग्न रहते थे[3]। बौद्ध उल्लेखके अनुसार गोशालक तपको पसन्द नहीं करता था[4]। जैन साहित्यके अनुसार आजीविक तपस्वी होते थे[5]। आजीविक श्रावक त्रसप्राणियोंकी हिंसासे विवर्जित व्यापार द्वारा आजीविका करते थे[6]।

गोशालक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम नहीं मानता था और सर्व भाव नियत मानता था[7]। उसका कहना था—"इस लोकमें दो प्रकारके पुरुष होते हैं। एक क्रियाका आख्यान

१—मज्झिम निकाय (महासच्चक सुत्तं) पृ १४४ तथा टि० १

२—उववाई (जीवन ग्रन्थमाला) सूत्र ४१ पृ० ८७

ठाणांग सूत्र (४-२-३१०)

३—मज्झिम निकाय (महासच्चक सुत्तंत) पृ० १४४

४—संयुक्त निकाय—२०३-१०;

५—ठाणांग सूत्र ४-२-३१०

६—भगवती सूत्र श० ८ उ० ५ : ५

७—उपासक दसा सूत्र अ० ६ और अ० ७ : १७-२०

करते हैं और दूसरे आख्यान करते हैं कि क्रिया नहीं। ये दोनों ही पुरुष तुल्य हैं। दोनों एक अर्थवाले और वस्तुओंके समान कारण बतलानेवाले हैं। वे दोनों बाल—मूर्ख हैं। वे कहते हैं—'मैं जो दुःख भोग रहा हूं, शोक पा रहा हूं, अश्रुपात कर रहा हूं, पीटा जाता हूं, परिताप पा रहा हूं, पीड़ा पा रहा हूं वह सब मेरे कर्मका फल है। दूसरे भी जो दुःखादि पाते हैं वे सब उनके कर्मका फल है।' वे दुःख सुखको कृत समझते हैं। पर बुद्धिमान पुरुष तो यह समझता है कि मेरे ये दुःखादि मेरे कर्मके फल नहीं है न दूसरेके दुःखादि उसके कर्मके फल हैं। उन सबका कारण नियति है। छओं दिशाओंमें जो त्रस स्थावर प्राणी हैं वे नियतिके प्रभावसे ही शरीर सम्बन्ध प्राप्त करते हैं, नियतिके कारण ही शरीरसे पृथक् होते हैं और नियतिके कारण ही कुबड़े, काने आदि नाना अवस्थाको प्राप्त करते है।" "दुःख स्वयं कृत नहीं है। दूसरेका किया हुआ कहांसे हो सकता है? सिद्धिसे उत्पन्न वा सिद्धिके विना उत्पन्न सुख दुःख प्राणी अलग अलग भोगते है। सुख दुःख स्वयं या दूसरे द्वारा किया हुआ नहीं है वह नियति-कृत है[1]।"

बौद्ध आगमोंमें गोशालकका सिद्धान्त निम्न रूपमें बतलाया गया है। "सत्वोंके क्लेशका हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके बिना प्रत्ययके ही सत्व क्लेश पाते हैं। सत्वोंकी शुद्धिका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके विना प्रत्ययके सत्व शुद्ध होते हैं। स्वयं कुछ नहीं कर सकते हैं, दूसरे भी कुछ नहीं कर सकते हैं, (कोई) पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता है, वल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुषका कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी

१—सूत्र कृतांग : श्रु० २ अ० १ : ३०-३२; श्रु० १ अ० १३ १ : २ पृ० २७

जीव निर्बल, निर्वीय, नियति—भाग्य और संयोगके फेरसे छः जातियोंमें उत्पन्न हो, सुख और दुःख भोगते हैं।............यह नहीं है—'इस शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूंगा। परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूंगा। सुख दुःख द्रोण (=नाप) से तुले हुए हैं, संसारमें घटना-बढ़ना उत्कर्ष अपकर्ष नहीं होता। जैसेकि सूतकी गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर=आवागमनमें पड़कर, दुःखका अन्त करेंगे[१]।"

गोशालक बद्ध, न-बद्ध न-मुक्त और मुक्त—ऐसी तीन अवस्थाएं मानता था। वह अपनेको मुक्त—कर्म-लेपसे परे मानता था। वह कहता था कि मुक्त पुरुष स्त्रीसे सहवास करे तो भी उसे भय नहीं[२]।

इससे प्रतीत होता है कि आजीविक सम्प्रदायमें ब्रह्मचर्यके नियम शिथिल रहे होंगे और स्त्री-सम्पर्कको उतना त्याज्य नहीं समझा जाता होगा जितना कि महावीर और बुद्धके संघमें।

गोशालकने महावीरसे दो वर्ष पहले धर्म प्रचार शरू किया था और १६ वर्ष तक आजीविक आचार विचारका प्रचार करता रहा। धर्माचार्यके रूपमें वह इतना प्रसिद्ध हो गया था कि लोग उसे तीर्थङ्कर कहने लगे थे। शङ्का निवारणके लिए मगधराज अजातशत्रु कूणिकका जिन विख्यात आचार्योंके यहां जानेका उल्लेख है, उनमें महावीर और बुद्धके साथ गोशालकका भी नामोल्लेख है। बौद्ध साहित्यमें गोशालकको संघी गणी गणाचार्य, सुविख्यात, यशस्वी, साधुसमत,

१—मज्झिमनिकाय सन्दक सुत्तत पृ० ३०१;
दीघनिकाय : (सामञ्ञफल सुत्त) पृ० २०

२—महावीर कथा : पृ० १७७

चिरदीक्षित, और तीर्थङ्करके विशेषण मिले हैं। उसके लिये "बहुत लोगोंका श्रद्धास्पद[१]" यह विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। इनसबसे अनुमान होता है कि उसके अनुयायियोंकी संख्या काफी बृहद् रही होगी।

भगवान् महावीरके श्रावक कुंडकौलिकने नियतिवादका खंडन किया था, जिससे भगवान्ने परिषद्में उसकी प्रशंसा की थी। खुद महावीरने भी गोशालकके नियतिवादका खंडन किया था। आजीविक उपासक सद्दालपुत्रको उन्होंने अपना उपासक बनाया था[२]।

भगवान् महावीरके साथ गोशालकका एक समय अगंत सम्बन्ध था। उनके साधक जीवनमें गोशालकके प्रसंगसे अनेक घटनाएं घटी थीं[३] और तीर्थङ्कर जीवनमें तो एक बड़ी ही कष्टकारी घटना घटी। इस घटनाका उल्लेख भगवती सूत्रमें मिलता है[४]। इस का वर्णन संक्षेपमें हम कहां करते हैं:—

एक वार महावीर श्रावस्ती नगरीमें पधारे। वहां कोष्ठक चैत्यमें ठहरे। गोशालक इसी नगरीमें आजीविका उपासिका हलाहलाके हाटमें रहता था। गौतम भिक्षाके लिए निकले। उन्होंने सुना गोशालक अपनेको जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ कहता है। वापिस आने पर

१—मज्झिमनिकाय : (चूल सारोपम सुत्तंत) पृ० १२४;
दीघनिकाय : (सामञ्ञफल सुत्त) पृ० १७-१८;
दीघनिकाय : (महापरिनिब्बाण सुत्त) पृ० १४५;
सुत्तनिपात : (समिय सुत्त) पृ० १०८ .

२—उपासक दसा सूत्र : अ० ६ : ४-७; अ० ७

३—भगवती सूत्र : श० १५ : ४३-४६; ५६—५८; ४८-५३

४—भगवती सूत्र : श० १५ : ८७-१०५; १४१

गौतमने गोशालकके इस कथनकी सत्यताके विषयमें भगवान्से प्रश्न किया। भगवान्ने उसके विषयमें निम्नलिखित बातें बतलाई :

"दीक्षाके बाद मैं नालंदाके बाहर तंतुवायशालामें दूसरा वर्षावास बिता रहा था। गोशालक उसी वर्षावासमें वहां आया और जहां मैं ठहरा हुआ था वहीं पासमें ठहरा। वर्षावासके बाद जब विहार कर मैं कोल्लाक सन्निवेशकी बाहर भूमिमें पहुचा उस समय शाटिका (अन्दर के वस्त्र), पाटिका (ऊपरके वस्त्र), कंडी, जूते और चित्रपट ब्राह्मणोंको दे, दाढ़ी मूंछ मुंड़वा गोशालक मेरे पास आया और हर्षित मनसे प्रदक्षिणा कर बोला :—'आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका शिष्य।' मैंने उसकी यह बात स्वीकार की। इसके बाद छः वर्ष तक हम साथ रहे। एक बार वेश्यायन नामक एक तपस्वीने 'जूओंके मिजमान' कहनेसे क्रुद्ध हो गोशालकको भस्म करनेके लिए तेजोलेश्या छोड़ी। शीत तेजोलेश्या छोड़ मैंने गोशालककी रक्षा की। उसी समय गोशालक के पूछने पर मैंने उसे तेजोलेश्या प्राप्त करनेकी विधि बतलाई। इसके बाद मुझसे अलग हो छः महीने तक मेरी बतलाई विधिसे तपस्या कर उसने तेजोलब्धि प्राप्त की। इसके बाद उसने अष्टांग निमितका कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। वह लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्युके विषयमें सच्चे उत्तर दे सकता है। पर हे गौतम! गोशालक जो यह कहता है कि जिन हूं, अर्हत् हू, केवली हू, सर्वज्ञ हू वह असत्य है।"

अब यह बात रास्ते-रास्ते फैल गई कि गोशालक अपनेको जिन नहीं होते हुए जिन आदि कहता है। गोशालक यह सुनकर आग-बबूला हो गया।

भगवान्के आनन्द नामक तपस्वी भिक्षु भिक्षाके लिए श्रावस्ती

पधारे। गोशालक उनसे बोला—"हे आनन्द! तुम्हारे धर्माचार्य और धर्मोपदेशकने उदार अवस्था प्राप्त की है और देव मनुष्य आदिमें उसकी कीर्ति हुई है पर यदि वह मुझसे इस तरह छेड़-छाड़ करता रहा तो अपने तपके तेजसे मैं उसे भस्म कर डालूंगा। जाकर अपने धर्माचार्यसे यह सब कह।"

आनन्दने झटपट जाकर सारी बात भगवान्से कही। भगवान् बोले—"अपने तपके तेजसे वह चाहे जिसको शीघ्र भस्मराशि करनेमें समर्थ है पर उसके तेजसे अनन्तानन्त गुण विशिष्ट तपोबल क्षमाके कारण अरिहंतका होता है। उनको वह दग्ध करनेमें समर्थ नहीं। केवल दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ है। आनन्द! जा, गौतमादिसे कह—'मंखलिपुत्र गोशालकने श्रमण निर्ग्रन्थोके प्रति विशेष रूपसे मिथ्यात्व—म्लेच्छभाव, अनार्यभाव धारण किया है। अतः आर्यो! तुम लोग गोशालकसे किसी तरहका वाद-विवाद न करना'।"

. आनन्द गौतमादिको यह बात कह ही रहा था कि कुंभारिनके हाटसे निकल अपने संघके साथ गोशालक शीघ्र गतिसे चलता कोष्ठक चैत्यमें पहुंचा और बोला—"हे आयुष्मन् काश्यप! 'मंखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्म सम्बन्धी शिष्य है'—यह जो कहते हो वह ठीक है पर तुम्हारा शिष्य तो मरण पा देवरूपमें उत्पन्न हुआ है। मैं तो कौंडिन्य गोत्रीय उदायी हूं।' मैंने गौतमपुत्र अर्जुनके शरीरका त्यागकर मंखलि गोशालकके शरीरको समर्थ, ध्रुव, परिषह और उपसर्ग सहनमें बलिष्ठ समझ उसमें प्रवेश किया है।"

भगवान्ने कहा "यह तो अपनेको तिनकेकी आड़से छिपाने जैसा है। ऐसा करना तुम्हें योग्य नहीं। परन्तु तुम्हारा एसा ही स्वभाव है, दूसरा नहीं।"

अब गोशालक और भी क्रुद्ध हो तमतमा उठा। भगवान्‌के शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्रने इस तरह अनार्य भाव न दिखलानेके लिए समझाया पर उल्टा गोशालकने तेजोलेश्या छोड़ दोनोंको भस्मकर डाला।

महावीरने भी गोशालकको शान्त करनेकी चेष्टा की पर गोशालक ने अत्यन्त क्रुध हो तैजस समुद्घात कर, ७-८ कदम पीछे जा शरीरसे, तेजोलेश्या छोड़ी; पर जिस तरह वायुका बवंडर दीवाल या स्तूपका कुछ नहीं कर सकता उसी तरह वह तेजोलेश्या भगवान्‌का वध करनेमें असमर्थ रही। वह गमनागमन करने लगी, प्रदक्षिणा देने लगी और ऊंचे आकाशमें उछल वहांसे स्खलित हो मंखलिपुत्र गोशालकके शरीरको जलाती उसके शरीरमें हो प्रवेश कर गई। गोशालक भगवान् से बोला—"मेरी तपोजन्य तेजोलेश्यासे पराभव प्राप्त कर तू छः मास के अन्तमें पित्तज्वरसे छद्मस्थ अवस्थामें मरण प्राप्त करेगा"। भगवान् बोले—"में तो सोलह वर्ष और जिन तीर्थङ्करके रूपमें विचरण करूंगा। पर तू अपने ही तेजसे पराभव प्राप्त कर सात दिनके अन्तमें पित्तज्वरसे तीड़ित हो छद्मावस्थामें ही मरण प्राप्त करेगा"।

जिस तरह तृण, काष्ठ, पत्ते आदिका ढिग अग्निसे सुलग जानेपर नष्ट तेज होता है उसी तरह तेजोलेश्या निकाल गोशालक नष्टतेज हो गया। श्रमणोंने अब उसके साथ चर्चा शुरूकी। गोशालक किसी भी श्रमणको हानि नहीं पहुंचा सका। इससे अनेक आजीविक स्थविर गोशालकको छोड़ श्रमण भगवान् महावीरके संघमें आ मिले।

अब गोशालकके शरीरमें तीव्र दाह उत्पन्न हुआ, उसे अपना अन्त दिखाई देने लगा। सात रात्रि पूरी हुई। अब गोशालकका मिथ्यात्व दूर हुआ। उसने अपने स्थविरोंसे कहा—"मैं 'जिन' नहीं हूं झूठ ही 'जिन' कहलाता रहा। भगवान् महावीर ही सच्चे 'जिन' हैं। मैं तो

श्रमणघाती और आचार्यद्वेषी हूं।" सात दिनके बाद गोशालक मृत्यु प्राप्त हुआ।

इसके बाद श्रमण भगवान् महावीर श्रावस्ती नगरीसे मेंढियग्राम नामक नगरके बाहर साणकोष्ठक नामक चैत्यमें आकर ठहरे। वहां महावीरको महापीड़ाकारक पित्तज्वरका दाह हुआ। लोहूकी टट्टियां होने लगीं। भगवान्के शिष्य सिंह नामक अणगार कुछ दूरपर तप कर रहे थे। वे यह सुनकर रुदन करने लगे। भगवान्ने निर्ग्रन्थोंको भेज उन्हें बुलाया और आश्वासन देते हुए बोले—"मैं तो अभी सोलह वर्ष और जीऊंगा। इस गांवमें रेवती गृहपत्नीने दो कपोत शरीर (एक प्रकारके फलका मुरब्बा) मेरे लिये तैयार किये हैं। उसके यहां जा और कह 'वे मेरे कामके नहीं' परन्तु उसने जो दूसरोंके लिए मार्जार कृत कुकुड मांस (एक प्रकारके फलका मुरब्बा) तैयार किया है वह ले आ।" यह सुन सिंह अणगार रेवतीके यहां गये और भिक्षा मांग लाये। महावीरने, सर्प जिस तरह बिलमें प्रवेश करता है, उसी तरह, आसक्ति रहित, उस पाकको शरीररूपी कोठेमें डाल लिया। इससे उनका पीड़ाकारी रोग शान्त हुआ और सब प्रसन्न हुए।

महावीरके निरोग हो जानेके बाद उनकी ख्याति और भी फैली। लोगोंने उन्हें सच्चा 'जिन', 'केवली' जाना और उनके प्रति और भी अधिक श्रद्धाभाव रखने लगे।

परिनिर्वाण

भगवान्का जीवनकाल

भगवान्का कुल आयुष्य ७२ वर्षका बतलाया गया है[१]। भगवती सूत्र श० १५ में भगवान् महावीर और गोशालकके परस्पर सम्बन्धका जो विस्तृत जिक्र है और जिसका सार ऊपर दिया जा चुका है उससे भी भगवान्की आयुष्य अवधि ७२ वर्षकी ही निकलती है[२]। उसमें उल्लेख है कि महावीरने दीक्षा ली तब वे ३० वर्षके थे (श० १५ : २०)। दूसरे वर्षावासके अन्तमें कोल्लाग संनिवेशकी बाहर भूमिमें गोशालक उनका शिष्य बना था (श० १५ : २१, ३५, ३७, ३९, ४०, ४१)। भगवान्की दीक्षा मिगसर वदी १० के दिन हुई थी (आचा० श्रु० २ अ० २४ : १०१७)। दीक्षा दिनसे दूसरे वर्षावास तक २ वर्ष होते हैं। इस तरह गोशालकको शिष्य स्वीकार करनेके पहले दो वर्ष बीते। शिष्य होनेके बाद गोशालक छः वर्ष तक भगवान्के साथ रहा (श० १५ : ४२)। सब जीव मर कर उसी शरीरमें उत्पन्न होते हैं—इस परिवर्त्तके बाद और तेजोलेश्याकी विधि जानकर सिद्धार्थ ग्राममें

१—आवश्यक निर्युक्ति गा० ३०५

२—Uvasagdasao (Translation By Dr. Hoernle) Page 109 Lect. Vi Para. 165—166 Note 253

गोशालक भगवान्‌से अलग हुआ था (श० १५ : ६१-६२)। श्रावस्ती में महावीर और गोशालक मिले उस समय गोशालक २४ वें वर्षकी दीक्षा पर्यायवाला था (श० १५ : ४)। इस २४ वर्षकी दीक्षा पर्यायमें ६ वर्ष महावीरके साथ बीते (श० १५ : ४२)। इस तरह १८ वर्ष बाद श्रावस्तीमें दोनोंकी वापिस भेंट हुई। गोशालककी मृत्युके बाद महावीर १६ वर्ष तक जीवित रहे (श० १५ : १०८, १४८)। उपर्युक्त वर्णनसे महावीरकी जीवन-अवधि ७२ वर्षकी निकलती है; यथा:—

दीक्षाके समय अवस्था	३० वर्ष
गोशालकको शिष्य स्वीकार करनेके पहले बीते	२ ,,
गोशालक शिष्य रूपमें साथ रहा	६ ,,
गोशालकसे श्रावस्तीमें भेंट हुई उसके बीचका समय	१८ ,,
गोशालकके बाद जीवित रहे	१६ ,,
कुल आयु	७२ वर्ष

इस ७२ वर्षकी आयुमें ३० वर्ष कुमारावस्थामें बीते[1]। १२ वर्ष केवलज्ञानके पहले छद्मस्थावस्थामें[2] और अवशेष ३० वर्ष तीर्थङ्कर जीवनमें।

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७;
आवश्यक निर्युक्ति गा० २८९
भगवती सूत्र : श० १५ : २०

२—आचारांग श्रु० २ अ० २४ : १०२०, १०२४;
आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० २ : ४८७;
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०

श्रावस्तीमें १८ वर्षके बाद दोनों मिले थे। उस समय गोशालकको 'जिन' घोषित हुए १६ वर्ष हो चुके थे (श० १५ : ९३)। इस तरह महावीरसे अलग होनेके २ वर्षके बाद गोशालकने अपनेको 'जिन' घोषित किया। गोशालकने महावीरसे अलग हो छः महीनेकी तपस्या कर तेजोलेश्या सिद्ध की। कुछ काल निमित्त ज्ञान प्राप्त करनेमें बिताया। दो वर्षका समय इसी तरह निकला होगा। महावीर गोशालकके अलग होनेके ४ वर्ष [१२ में से ८ (६+२) वर्ष घटा देनेसे] बाद 'जिन' घोषित हुए। इस तरह महावीरके केवलज्ञान प्राप्त करनेके दो वर्ष पहले ही गोशालकने अपनेको 'जिन' घोषित किया।

निर्वाण भूमि और निर्वाण

भगवान्‌का अन्तिम चातुर्मास मध्यम पावामें हुआ। यह चातुर्मास हस्तिपाल राजाकी रज्जुक सभामें हुआ था। इसी वर्षावासमे कार्तिक कृष्णा अमावश्याकी रातकी अन्तिम घड़ियोंमें स्वाति नक्षत्रके समय भगवान्‌का निर्वाण हुआ। इस देहको छोड़ और जन्म, जरा, मरणके बंधनको छेद वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए[1]। अन्तिम दिन भगवान् पिछली रात तक उपदेश धारा बहाते रहे। अन्तिम घड़ी ज्यों-ज्यों नजदीक आ रही थी, भगवान्‌की उपदेश धारा द्रुतवति होती जा रही थी। भगवान्‌ने अपने उपदेशमें पुण्य और पापके फल विषयक ५५।५५ अध्ययन और अपृष्ट विषयोंके ३६ अध्ययन कहे।

भगवान्‌को उस दिन छट्ठभक्तका उपवास था। वे पर्यंकासनमें स्थिर हो गये। धीरे-धीरे मन, वचन, कायाके स्थूल, सूक्ष्म योगोंको रोकने लगे और इस तरह शंखके समान उज्ज्वल शुक्ल ध्यानकी चरम

१—कल्पसूत्र : १२२-२४;

श्रेणीको पहुंच सारे कर्म विदीर्ण कर डाले। भगवान्ने इस तरह अपुनरागति—मुक्ति—प्राप्ति की[१]।

भगवान् मुक्त हुए उस समय चौथे आरेके शेष होनेमें ३ वर्ष ८॥ महीने बाकी थे[२]।

गौतमको केवलज्ञान

गणधर गौतमका भगवान्के प्रति बड़ा मोह था और यह मोह ही केवलज्ञान उत्पन्न न होने देता था। गौतमके बाद प्रव्रजित अनेक साधुओंको केवलज्ञान हो चुका था। गौतम इस कारण अधीर हो उठते थे। एक बार उन्हें खिन्न देखकर भगवान्ने कहा था—"हे गौतम! तेरा मेरे साथ चिर स्नेह है, चिरकालसे तू मेरा प्रशंसक रहा है, चिरकालसे तेरा मेरे साथ परिचय है, हे गौतम! चिरकालसे तू मेरी सेवा करता चला आ रहा है, तूने चिरकालसे मेरा अनुसरण किया है, तू चिरकाल से मेरे साथ अनुकूल बर्त्ताव करता चला आ रहा है। हे गौतम! इसके पहले देव-भवमें मेरा तेरे साथ सम्बन्ध रहा और अभी मनुष्य-भवमें भी सम्बन्ध है। अधिक क्या मृत्युके बाद शरीरका नाश होनेपर यहांसे च्यव हम लोग दोनों तुल्य, एक प्रयोजनवाले, विशेषता और भेद रहित सिद्ध होंगे। अनुत्तरोपपातिक देव इस बातको जानते हैं[३]।"

भगवान्ने यह आश्वासन दिया था पर गौतमको केवल ज्ञान होना तो अभी बाकी ही था और भगवान्का देहावसान हो चुका था।

१—कल्पसूत्र : १४७;

२—उपर्युक्त

३—भगवती सूत्र : श० १४ : उ० ७

भगवान्‌ने अपने निर्वाणके पहले गौतमको समीपके गांवमें प्रतिबोध देनेके लिए भेज दिया था। पर वे अपने आश्वासनकी बात भूले नहीं थे। अपने अन्तिम प्रवचनमें उन्होंने अपने अन्तेवासी शिष्यके लिए एक दिव्य सन्देश छोड़ा, जो उत्तराध्ययन सूत्रके १० वें अध्ययनके रूपमें आज भी प्राप्त है।

गांवमें अपना काम पूरा कर गौतम वापिस आ रहे थे। भगवान्‌के निर्वाणकी खबर उन्हें मार्गमें ही मिली। उनके दुःखका पारावार नहीं रहा। अन्तिम घड़ीमें उन्हें भगवान्‌से दूर रहना पड़ा और वह भी भगवान्‌की इच्छासे। वे विह्वल हो अश्रुपात करने लगे। ऐसे ही विषादपूर्ण क्षणमें उन्होंने भगवान्‌का अपने लिए दिया हुआ उपर्युक्त अन्तिम संदेश सुना। इस संदेशका सार इस प्रकार है—"हे गौतम ! समय मात्रके लिए भी प्रमाद न करना। अपनी आत्मासे स्नेहका—मोहका—व्यच्छेद कर। सर्वस्नेह—रागभावसे अलग हो जा। वमन किए हुएको पीनेकी इच्छा न करना। तू विशुद्ध मार्गपर चल रहा है। तू महान् समुद्रको तिर चुका। अब तीर पर आकर क्यों स्थिर है ? पार पानके लिए शीघ्रता कर। हे गौतम ! तू क्षेम और कल्याण युक्त उत्तम सिद्ध लोगको प्राप्त करेगा। प्रबुद्ध और परिनिवृत (शान्त) होकर सयम मार्गमें विचरण कर[1]।"

गौतमके लिए यह अन्तिम सदेश बहुमूल्यसे बहुमूल्य विरासत थी। उन्हें इस संदेशमें दिव्य पथ-निर्देश मिला। सुकथित अर्थ और पदोंसे विभूषित भगवान्‌के इस सुभाषितको सुन गौतम सजग हुए। उन्होने सोचा "महावीरने मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया। वीतराग

१—उतराध्ययन सूत्र अ० १० : १, २८,२९, ३२, ३४, ३५, ३६

भगवान्ने क्या मुझे पथ नहीं दिखला दिया ? वे तो सिद्ध गतिको प्राप्त हो गए अब मैं क्यों मोह करूं ?" ऐसा सोचते ही उनकी आत्मा धर्मध्यानमें लीन हो गई। उन्होंने राग द्वेषको छेद डाला। स्नेहके—मोहके—तंतु टूट पड़े और उन्हें अनन्त ज्ञान दर्शन प्राप्त हुए[१]। भगवान्की वाणी सफल हुई और अब उनके आश्वासन पूरा होनेमें कोई संदेहका कारण नहीं रहा।

अपने जीवनके अन्तिम उपदेशमें तथागत बुद्धने अपने शिष्य आनन्दसे कहा था—"आनन्द! शायद तुमको ऐसा हो—'अतीत-शास्ता (चलेगये गुरु) का (प्रवचन) है, (अब) हमारा शास्ता नहीं रहा।' आनन्द! इसे ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रज्ञप्त (विहित) किये हैं; मेरे वाद वही तुम्हारे शास्ता (गुरु) है[२]। "भगवान् महावीरने भी प्रायः ऐसी ही बात अपने अन्तिम प्रवचनमें गौतमको सम्बोधन कर कही थी। 'हे गौतम मेरे निर्वाणके बाद लोग कहेंगे—'निश्चय ही अब कोई जिन नहीं देखा जाता'। पर हे गौतम! मेरा उपदिष्ट और विविध दृष्टियोंसे प्रतिपादित मार्ग पथ-प्रदर्शकके रूपमें रहेगा[३]।" "ग्राम या नगर जहां भी

१—कल्पसूत्र : १२७; उत्तराध्ययन सूत्र अ० १० : ३७

२—दीघ-निकाय (महापरिनिब्बाण सुत्त) पृ० १४६

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १० : ३१। इस गाथाको डॉ० हर्मन जैकोबीने प्रक्षिप्त बतलाया है (S. B. E. Vol. xLv part II page 45 F. N. I.); उन्हींका अनुसरण करते हुए गोपालदास जीवाभाई पटेलने भी उसे प्रक्षिप्त कह दिया है (महावीरस्वामी जो अन्तिम उपदेश—पृ० ५१ फुट नोट १) पर वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। इस पदके भावार्थको विचार करनेसे वह प्रक्षिप्त मालूम नहीं देगा पर उसमें भगवान् महावीरका एक अनुपम उपदेश दिखाई देगा।

जाना, संयत रह, शान्तिमार्गकी वृद्धि करना—अहिंसामार्गका प्रचार करना[१]।"

इस घटनाके बाद गौतम १२ वर्ष तक जीए और राजगृह नगरमें एक मासका अनशन कर शरीर त्याग अक्षय मोक्षपदको पा महावीरके तुल्य सिद्ध हुए[२]।

श्रद्धाञ्जलियां

जिस रात्रिमें भगवान् काल प्राप्त हुए उस रात्रिमें काशी के नव मल्लकि और कौशल देशके नव लेच्छकि १८ गण राजाओंने पौषधो-पवास किए। भावउद्योत जा चुका था। उसकी स्मृतिमें द्रव्य उद्योत—दीप प्रकाश किया[३]।

महावीरके बाद संघका भार गणधर सुधर्मा पर आया। ग्यारह गणधरोंमें गौतम और सुधर्मा ही भगवान्के बाद जीवित रहे[४]।

सुधर्मा स्वामीने भगवान्के गुण वर्णनमे बड़ी ही सुन्दर कारिकाएँ लिखी हैं, जो सूत्रकृतांगमें सगृहीत हैं। हम भी अन्तमें भगवान्का गुणवन्दन कर लें।

"योद्धाओंमें जैसे वासुदेव श्रेष्ठ हैं, पुष्पोंमें जैसे अरविंद श्रेष्ठ है, क्षत्रियोंमे जैसे दन्तवक्र श्रेष्ठ है उसी तरह वर्द्धमान ऋषियोंमें श्रेष्ठ थे (अ० ६: २२)।

"दानोंमें जैसे अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यमें जैसे निरवद्य वचन श्रेष्ठ है, तपमें उत्तम ब्रह्मचर्य तप है, उसी तरह नायपुत्त लोगोंमें उत्तम श्रमण थे (६: २३)।

१—उत्तराध्ययन सूत्र : १० : ३६;

२—कल्पसूत्र : गणधर स्थविरावली : ४

३—कल्पसूत्र : १२८;

४—कल्पसूत्र : गणधर स्थविरावली : ४

"वे पृथ्वीके समान क्षमाशील थे, रात-दिन कर्मोंको धुनते थे, अगृद्धिभावसे रहित थे, वे जरा भी संचय नहीं करते थे और बड़े आशु-प्रज्ञ थे। महाघोर संसार समुद्रका उन्होंने पार पाया। वे वीर अनन्त ज्ञान चक्षुवाले थे और अभयदानी थे (अ० ६: २५)।

"क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार आध्यात्म दोषोंका वे अर्हत् महर्षि हमेशा वमन करते रहे। वे न स्वयं कभी पाप करते थे, न कराते और न करते हुए का कभी अनुमोदन करते थे (अ० ६: २६)।

"जैसे हाथियोंमें ऐरावत, वनचरोंमें सिंह, जलमें गंगाका जल और पक्षीमें वेणुदेव गरुड़ प्रधान कहा गया है उसी तरह नायपुत्त निर्वाणवादियोंमें प्रमुख थे (अ० ६ : २१)।

"वृक्षोंमें जैसे साल्मलि श्रेष्ठ होता है, वनोंमें जैसे नन्दनवन श्रेष्ठ है, उसी तरह दीर्घ प्रज्ञ महावीर ज्ञान और शीलमें प्रधान थे (अ० ६ : १८)।

"जैसे उदधिमें स्वयंभू श्रेष्ठ है, नागोंमें धरणीन्द्र श्रेष्ठ है, रसोंमें इक्षुरस जयवत है उसी तरह तप उपधानमें महामुनि जयवंत—श्रेष्ठ थे। (६ : २०)।

भगवान् अणुत्तर धर्म कहते और अणुत्तर ध्यान—ध्यानोंमें श्रेष्ठ ध्यान ध्याते। वे अत्यन्त शुक्ल, चन्द्र और शंखके समान एकान्त स्वच्छ और निर्मल ध्यानके ध्याता थे (अ० ६ : १६)।

"अपने श्रेष्ठ शुक्ल ध्यानसे अवशेष कर्मोंको क्षय कर परम महर्षि अणुत्तर ज्ञान, शील और दर्शनसे अनन्त सिद्धिको प्राप्त हुए (अ० ६ : १७)।

"इस महान् अर्हत् द्वारा सुभाषित अर्थ और पदसे शुद्ध धर्मको सुन और उसमें श्रद्धा ला अनेक मनुष्य आयुष्यरहित सिद्ध अथवा देव होंगे (अ० ६ : २९)।"

तीर्थंकर वर्द्धमान

भाग २

प्रवचन

१ : शिक्षापद

: १ :

शिक्षापद

१ : समयं गोयम ! मा पमायए

१—दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । १

जैसे वृक्षके पत्ते पीले पड़ते हुए समय आने पर पृथ्वी पर झड़ जाते हैं उसी तरह मनुष्य जीवन भी (आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है)। हे जीव[1] ! समय[2] भरके लिए भी प्रमाद न कर।

२—कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २

जैसे कुशकी नोक पर लटका हुआ ओस बिंदु कुछ ही समयके लिए टिकता है, वैसे ही मनुष्य-जीवन भी। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

१—मूलमें 'गोयम'—'गौतम' शब्द है परन्तु यह उपदेश सबके प्रति समान रूपसे लागू होनेसे अनुवादमें उसके स्थान पर 'जीव' शब्द का व्यवहार किया है।

२—कालका सबसे छोटा अंश है।

३—इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०।३

आयु ऐसा ही नाशवान् और स्वल्प है और जीवनमें विघ्न बहुत हैं। पूर्व संचित कर्म-रूपी रजको शीघ्र दूर कर। हे जीव! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

४—दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०।४

निश्चय ही मनुष्य भव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियोंको वह बहुत दीर्घकालके बाद मिलता है। कर्मोंके फल बड़े गाढ़—तीव्र होते हैं। हे जीव! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

५—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले[1] य हायई, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०।२१-२५

दिन दिन तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, तेरे केश पककर श्वेत होते जा रहे हैं और तेरी इन्द्रियों (कान, आंख, नाक, जीभ और शरीर) का बल घटता जा रहा है। हे जीव! तू समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

१—'सोयबल'—श्रोतेन्द्रिय बल। इसके आगेकी २२ से लेकर २५ वीं गाथामें क्रमशः चक्षु, नाक, जिह्वा और शरीर बलके द्योतक शब्दों का प्रयोग है। संक्षेपके लिए २१ वीं गाथाके अनुवादमें उपलक्षण रूपसे सर्व इन्द्रियोंके नाम दे दिए हैं।

६—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २६

जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक रहे हैं और सर्वबल क्षीण होता जा रहा है। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

७—अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २७

असूचि फोड़े-फुन्सी और विसूचिका आदि नाना प्रकारके आतंक तेरे शरीरको स्पर्श कर रहे हैं और उसे बलहीन कर उसको ध्वंस कर रहे हैं। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

८—वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्व सिणेहवज्जिए, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २८

जैसे कमल शरद ऋतुके निर्मल जल[1] से भी निर्लिप्त रहता है वैसे ही तू अपनी सारी आसक्तियोंको छोड़, सारे स्नेह बंधन छिटका दे। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

९—अवसोहिय कण्टगापहं, ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । ३२

१—कमल कादेमें उत्पन्न होकर भी उससे निर्लिप्त रहता है। कादेसे ही नहीं शीत कालके विशेष निर्मल जलसे भी वह लिप्त नहीं होता। इस विशेषताका सहारा लेकर मुमुक्षको अल्पसे अल्प आसक्तिके त्यागका उपदेश दिया गया है।

कंटकवाले पथको छोड़कर तू इस चौड़े पथ पर आया है। इस साफ धोरी मार्गका ध्यान रखते हुए चल। हे जीव ! तू समय भर के लिए भी प्रमाद न कर।

१०—अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०। ३३

जैसे निर्बल भारवाहक विषम मार्गमें पड़कर बादमें पछताता है वैसा ही कहीं तेरे साथ न हो। हे जीव ! तू समय मात्रके लिए भी प्रमाद न कर।

११—तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमत्तिए, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०। ३४

महान समुद्र तो तू तिर चुका। अब किनारे आकर क्यों स्थिर है ? त्वरासे पार पहुंच। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

१२—अकलेवरसेणि उस्सिया, सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०। ३५

सिद्ध पुरुषोंकी श्रेणीके अनुसरणसे तू क्षेम और कल्याणयुक्त उत्तम सिद्धलोकको प्राप्त करेगा। हे जीव ! एक समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

२ : दुर्लभ संयोग

१—चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

उ० ३।१

संसारमें प्राणियोंको चार[1] परम अंग—उत्तम संयोग—अत्यन्त दुर्लभ हैं : (१) मनुष्य-भव—(२) धर्म-श्रुति—धर्मका सुनना (३) धर्ममें श्रद्धा और (४) संयममें—धर्ममें—वीर्य—पराक्रम।

२—समावन्ना णं संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभया पया ॥

उ० ३।२

यह विश्व नाना प्रजा—प्राणियोंसे भरा हुआ है। इस संसारमें ये प्राणी नाना प्रकारके कर्मोंसे अलग-अलग जाति और गोत्रोंमें उत्पन्न हैं।

३—एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई ॥

उ० ३।३

१—उत्तराध्ययन सूत्रके १० वें अध्ययनकी १६ तथा १७ वीं गाथामें 'आर्यत्व' और 'अहीनपंचेन्द्रियता'—'पांचों इन्द्रियोंकी सम्पूर्णता' इन दोनोंको भी दुर्लभ बताया गया है और इनको 'मनुष्य भव' के बाद और 'धर्मश्रुति' के पहले स्थान दिया है।

अपने कर्मोंके अनुसार जीव कभी देवलोकमें और कभी नर्कमें जाते हैं और कभी असुर होते हैं।

४—एगया खत्तिओ होइ, तओ चण्डाल बुक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुन्थु पिवीलिया॥

उ० ३।४

जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चण्डाल और कभी बुक्कस। कभी कीट-पतंग और कभी कुन्थु-चींटी होकर जन्म लेता है।

५—कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो॥

उ० ३।६

कर्मसंगसे मूढ हुए प्राणी अत्यन्त वेदना पाते हुए और दुःखी होते हुए अमानुषी—मनुष्येतर योनियोंमें भ्रमण करते हैं।

६—कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं[१]॥

उ० ३।७

इस प्रकार करते करते, कर्मोंके क्रमशः क्षयसे शुद्धिको प्राप्त हुआ जीव कदाचित्—बहुत लम्बे कालके बाद—मनुष्य भवको पाता है।

७—माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं॥

उ० ३।८

मनुष्य-भव पाकर भी उस धर्मको सुननेका संयोग—अवसर पाना

१—मनुष्य भवकी दुर्लभताको बताते हुए यहां जो भाव प्रकट किये गए हे वैसे ही भाव उ० अ० १०। ४-१५ में भी प्राप्त होते हैं।

दुर्लभ है—जिस धर्मको सुनकर मनुष्य तप, संयम और अहिंसाको स्वीकार करता है। (क्योंकि कुगुरुसेवी बहुत देखे जाते हैं।[१])

८—आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम दुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥

उ० ३।९

कदाचित् धर्मका सुनना सुलभ भी हो तो उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है क्योंकि न्याय मार्गको सुनकर—जानकर—भी अनेक जीव उससे गिर जाते हैं। (धर्म सुनने पर भी मिथ्यात्वके सेवी बहुत देखे जाते हैं।[१])

९—सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरयं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणावि, नो य णं पडिवज्जए॥

उ० ३।१०

कदाचित् धर्मको सुनकर उसमें श्रद्धा भी हो जाय तो धर्ममें पुरुषार्थ करना तो और भी दुर्लभ होता है। धर्ममें रुचि होने पर भी बहुतसे धर्मका पालन नहीं करते। (धर्ममें श्रद्धा होनेपर भी कामभोगों में मूर्छित अनेक देखें जाते हैं।[२])

१०—माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं

उ० ३।११

मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्मको सुनता और श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ—आचरण—करता है वह तपस्वी नए कर्मोंको रोकता हुआ संचित कर्म-रूपी रजको धुन डालता है।

१—उ० १०।१८;
२—उ० १०।१९; २—उ० १०।२०

३ : आत्म-जय : परम-जय

१—जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

उ० ६।३४

दुर्जय संग्राममें सहस्र-सहस्र शत्रुओंको जीतनेकी अपेक्षा एक अपनी आत्माको जीतना ही सर्वोत्कृष्ट जय है। जो अपनी आत्माको जीत लेता है, वही सच्चा संग्राम-विजयी है।

२—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

उ० ६।३५

अपनी आत्माके साथ ही युद्ध करो। वाह्य शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे क्या मतलब ? जो अपने द्वारा अपनी आत्माको जीतता है, वही सुखी होता है।

३—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

उ० १।१५

अपने आपको जीतो। अपने-आपको जीतना ही वास्तवमे दुर्जय है। अपनी आत्माको दमन करनेवाला इह लोकमें तथा पर लोकमें सुखी होता है।

४—पाणेय णाइवाएज्जा, अदिन्नं पियणादए।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥

सू० १, ८।१६

प्राणियोंके प्राणोंको न हरे, बिना दी हुई कोई भी चीज न ले, कपटपूर्ण झूठ न बोले—आत्म-जयी पुरुषोंका यही धर्म है।

५—न चरेज्ज वेससामन्ते, बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्सदन्तस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिआ ॥

द० ५।१ : ९

ब्रह्मचारीको ब्रह्मचर्यको हानि पहुंचावाले वेश्याओंके पाड़में नहीं विचरना चाहिये। जितेन्द्रिय ब्रह्मचारीका मन वहां खिन्नताको प्राप्तहोता है।

६—जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

उ० ८ : १७

जैसे लाभ होता है, तृष्णा बढ़ती जाती है; लाभ लोभको बढ़ाता है। दो मासे सुवर्णसे होनेवाला कार्य, करोड़ोंसे भी पूरा न हुआ।

७—पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥

उ० ९ : ४९

चावल और जौ आदि धान्य तथा सोने-चांदी और पशुओंसे भरी हुई यह समस्त पृथ्वी भी लोभीकी तृष्णाको शान्त करनेमे असमर्थ है—यह समझ कर सन्तोष-रूपी तप करो।

८—कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

द० ८ : ३७

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों दुर्गुण पापकी वृद्धि करनेवाले हैं; जो अपनी आत्माकी भलाई चाहे, वह इन दोषोंको शीघ्र छोड़े।

९—उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे॥

द० ८ : ३९

क्रोधको उपशम—शान्तिसे, मानको मार्दव—मृदुतासे, मायाको ऋजुभाव—सरलतासे और लोभको सन्तोपसे जीते।

१०—साहरे हत्थपाए य, मणं पञ्चेन्द्रियाणि य।
पावगं च परीणामं भासादोसं च तारिसं॥

सू० १, ८ : १७

विवेकी पुरुष अपने हाथ, पांव, मन और पांचों इन्द्रियोंको बशमें रखे। दुष्ट मनोभाव और भाषादोषोंसे अपनेको बचावे।

११—भासमाणो न भासेज्जा, णेव वम्फेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिन्तिय वियागरे॥

सू० १, ९ : २५

वह बोलते हुए के बीच नहीं बोले, मर्मभेदी बात न कहे, माया भरे वचनोंका परित्याग करे। जो बोले, सोचकर बोले।

१२—अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खन्तेऽभिनिव्वुडे दन्ते, वीतगिद्धी सया जए॥

सू० १, ८ : २५

सुव्रती पुरुष, अल्प खाय, अल्प पीवे, अल्प बोले। वह क्षमावान हो, लोभादिसे निवृत्त हो, जितेन्द्रिय हो, गृद्धि-रहित—अनासक्त हो तथा सदाचारमें सदा यत्नवान हो।

१३—न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सूयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसि बुद्धिए॥

द० ८ : ३०

विवेकी पुरुष दूसरेका तिरस्कार न करे, न अपनी बड़ाई करे। अपने शास्त्र-ज्ञान, जाति और तपका अभिमान न करे।

१४—अणुसासिओ न कुप्पिज्जा, खांतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए॥

उ० १ : ९

मुमुक्षु जीव अनुशासनसे कुपित न हो, किन्तु क्षमाका सेवन करे तथा क्षुद्रजनोंकी संगति, उनके साथ हास्य और क्रीड़ादिको छोड़े।

१५—निस्सन्ते सियामुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए॥

उ० १ : ८

सदा शान्त रहे, बिना विचारे न बोले, सदा गुरुजनोंके समीपमे रहकर अर्थयुक्त परमार्थसाधक बातोंकी शिक्षा ग्रहण करे और निरर्थक बातोंको छोड़ दे।

१६—से जाणंअजाणं वा, कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे॥

द० ८ : ३१

विवेकी पुरुष जान या अजानमें कोई अधर्म कृत्य कर बैठे तो अपनी आत्माको शीघ्र उससे हटा ले और फिर दूसरी बार वैसा न करे।

४ : रहस्य भेद :

१—एगेजिए जिया पंच, पञ्चजिए जिया दस ।
दसहाउ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

उ० २३ : ३६

एकको जीत चुकनेसे मैंने पांचको जीत लिया; पांचको जीत लेनेसे मैंने दसको जीत लिया; और दसोंको जीतकर मैंने सभी शत्रुओंको जीत लिया है ।

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणीत्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥

उ० २३ : ३८

आत्मा एक दुर्जय शत्रु है । क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय मिलकर पांच और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श ये पांच इन्द्रियां मिल कर दस शत्रु हैं । इन्हें ठीक रूपसे जीत कर, हे महा-मुने ! मैं विहरता हूं ।

२—ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ॥

उ० २३ : ४१

हे मुने ! संसारी प्राणियोंके बन्धे हुए पाशोंका सर्व प्रकार और उपायोंसे छेदन और हनन कर मैं मुक्तपाश और लघुभूत होकर विहरता हूं ।

रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥

उ० २३ : ४३

हे मुने ! राग-द्वेषादि और स्नेह—ये तीव्र और भयंकर पास है। उन्हें ठीकरूपसे छेदकर मैं यथाक्रम विहरता हूं।

३—तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥

उ० २३ : ४६

मैंने हृदयके अन्दर उत्पन्न विषलताको सर्व प्रकारसे छेदन कर अच्छी तरह मूल सहित उखाड़ कर फेंक दिया है। इस तरह मैं विष फलसे मुक्त हो गया हूँ।

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीम फलोदया।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ॥

उ० २३ : ४८

भवतृष्णाको लता कहा गया है, जो बड़ी भयंकर और भयंकर फलोंको देनेवाली है। उसे यथाविधि उच्छेदकर हे महामुने ! मैं सुख पूर्वक विहरता हूं।

४—महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहंति मे ॥

उ० २३ : ५१

महामेघसे प्रसूत उत्तम जलको लेकर मैं उनको सतत् सिंचन करता रहता हूं। इस तरह सिंचनकी हुई वे अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

उ० २३ : ५३

क्रोध, मान, माया, और लोभ—ये चार कषायरूपी अग्नियां हैं। श्रुत, महामेघ है, शील और तप श्रुतधाराका शीतल जल है। श्रुतरूप मेघकी जलधारासे निरन्तर सींचे जानेके कारण छिन्न-भिन्न हुई ये अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

५—पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥

उ० २३ : ५६

भागते हुए दुष्ट अश्वको मैं ज्ञानरूपी लगामके द्वारा अच्छी तरह पकड़ता हूं। इससे मेरा अश्व उन्मार्गमें नहीं जाता और ठीक मार्गको ग्रहण करता हुआ चलता है।

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठसो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ॥

उ० २३ : ५८

मन ही यह साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है जो चारों ओर दौड़ता है। मैं उस कन्थकको धर्म शिक्षा द्वारा अच्छी तरह काबूमें करता हूं।

६—अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥

उ० २३ : ६६

समुद्रके बीच एक विस्तृत महान् द्वीप है, जहां महान् उदकके वेग की गति नहीं है।

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

उ० २३ : ६८

जरा मरणरूपी महा उदकके वेगसे डूबते हुए प्राणियोंके लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।

७—जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥

उ० २३ : ७१

जो नौका छेदोंवाली होती है वह पार ले जानेवाली नहीं होती । जो नौका छेदोंसे रहित होती है वही पार पहुचानेवाली होती है ।

८—सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥

उ० २३ : ७३

शरीरको नौका कहा गया है । जीवको नाविक कहा गया है । संसारको समुद्र कहा गया है । जीवरूपी नाविकके द्वारा शरीर-रूपी नौकाको खेकर महर्षि जन्म-मरणरूपी इस महा अर्णवसे तर जाते हैं ।

९—अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥

उ० २३ : ८१

लोकाग्र पर एक ऐसा दुरारोह ध्रुव स्थान है, जहां जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाए नहीं हैं ।

निव्वाणं ति अबाहन्ति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरन्ति महेसिणो ॥

उ० २३ : ८३

यह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, लोकाग्र, सिद्धि आदि नामसे प्रख्यात है। इस क्षेम, शिव, और अनाबाध स्थानको महर्षि पाते हैं।

तं ठाणं सासयंवासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ॥

उ० २३ : ८४

हे मुने ! यह स्थान आत्माका शाश्वत वास है। यह लोकके अग्रभागमें है। जन्म जरा आदिसे दुरारोह है। इसे प्राप्त कर लेने पर किसी तरह का दुःख नहीं रह जाता और भव-परम्पराका अन्त हो जाता है।

५ : अठारह पाप

१—सीहं जहा खुड्डमिगा चरन्ता, दूरे चरन्ति परिसंकमाणा।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥
सू० १, १० : २०

मृगादि अटवीमें विचरनेवाले जीव जैसे सिंहसे सदा भयभीत रहते हुए दूरमें—एकान्तमें—चरते हैं इसी तरह मेधावी पुरुष धर्मको विचार कर पापको दूरसे ही छोड़े।

२—पाणाइवायमलियं चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं।
कोहं माणं मायं लोभं पिज्जं तहादोसं ॥
कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं।
परपरिवायं मायमोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥
आवश्यक सूत्र

(१) प्राणातिपात (हिंसा), (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) द्रव्य-मूर्च्छा (परिग्रह), (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असंयममें रति (सुख), संयममें अरति (असुख), (१६) परपरिवाद—निन्दा, (१७) माया-मृषा—कपटपूर्ण मिथ्या और (१८) मिथ्यादर्शनरूपी शल्य—ये अठारह पाप हैं।

३—कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति ?

हे भगवान् ! जीव गुरुत्व—भारीपन और लघुत्व—हल्केपन को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं सुक्कं तुंबं णिच्छिड्डं निरुवहयं दब्भेहिं कुसेहिं वेढ़ेइ, वेढित्ता मट्टिया लेवेणं लिंपति, उण्हे दलयइ, दलइत्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेति, वेढित्ता मट्टिया लेवेणं लिंपति, लिंपित्ता उण्हे सुक्कं समाणं तच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेति, वेढित्ता मट्टिया लेवेणं लिंपति। एवं खलु एएणुवाएणं अन्तरा वेढेमाणे अन्तरा लिंपेमाणे अन्तरा सुक्कवेमाणे जाव अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपति अत्था हमतारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुययाए भारिययाए गुरुयभारिययाए उप्पिं सलिलमति वइत्ता अहे धरणियलपइट्ठाणे भवति।

हे गौतम ! यदि कोई मनुष्य एक बड़े, सूखे, छिद्र सहित, सम्पूर्ण तूंबेको दर्भ और कुससे कस कर उस पर मिट्टीका लेप करे और फिर धूपमें सुखा कर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टीका लेप

कर उसे अथाह, दुस्तर, गहरे जलमें डाले तो वह तूंबा डूबेगा या नहीं ? निश्चय ही हे गौतम ! मिट्टीके आठ लेपोंसे भारी बना वह तूंबा ऊपरके जलको पार कर पृथ्वीतल पर बैठ जायगा।

एवामेव गोयमा ! जीवा वि पाणातिवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्म पगडीओ समज्जिणंति। तासिं गुरुययाए भारिययाए गरुयभारिययाए कालमासे कालं किच्चा धरणि यलमतिवतित्ता अहे नरगतलपइट्ठाणा भवंति। एवं खलु गोयमा ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति।

इसी तरह हे गौतम ! जीव—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि १८ पापरूपी दाभसे आत्माको वेष्ठित कर, आठ कर्म प्रकृतियों का लेप अपने ऊपर चढ़ाता है, जिससे गुरु—भारी होकर, कालके समय काल प्राप्त कर, धरणी तलको पार कर नीचे नर्क तल पर स्थित होता है। इस तरह हे गौतम् ! जीव शीघ्र गुरुत्व—भारीपन—को प्राप्त होता है।

अहण्णं गोतमा ! से तुंबे तंसि पढमिल्लुगंसि मट्टियालेवंसि तिन्नंसि कुहियंसि परिसडियंसि ईसिं धरणियलाओ उप्पतित्ता णं चिट्ठति। ततोऽणंतरं च णं दोच्चंपि मट्टियालेवे जाव उप्पतित्ता णं चिट्ठति। एवं खलु एएणं उवाएणं तेसु अट्ठसु मट्टिया लेवेसु तिन्नेसु जाव विमुक्कबंधणे अहे धरणियलमइवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवति। एवामेव

गोयमा! जीवा पाणातिपातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं अणु पुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्गपतिट्ठाणा भवंति। एवं खलु गोयमा! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

ज्ञाता धर्मकथा—अ० ६

हे गौतम ! जलमें डूबे हुए तूंबेका सबसे ऊपरका पहला तह जब गलकर अलग हो जाता है, तो तूंबा धरणीतलसे ऊपर उठता है। तदनन्तर इस तरह एक एक कर सारे आठों मिट्टीके तह गल जाते हैं तो बंधनसे मुक्त होते ही तूम्बा पुनः धरणीतलको सम्पूर्णरूपसे छोड़ पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, अब्रह्मचर्य आदि अठारह पापोंके त्यागसे जीव अनुपूर्वसे आठ कर्म प्रकृत्तियोंके दलको क्षय कर गगनतलकी ओर उठता हुआ लोकाग्र पर प्रतिष्ठित होता है। इस तरह हे गौतम ! जीव शीघ्र लघुत्वभावको —हल्केपनको प्राप्त करता है।

५—जहा कुम्मे सअङ्गाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइँ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

सू० १, ८:१६

जैसे कच्छुआ अपने अंगोपांगको शरीरमें समेट कर खतरेसे अपनी रक्षा करता है, इसी तरह मेधावी पुरुष आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा आत्माको अन्तर्मुख कर पाप कर्मोंसे अपनी आत्माको बचावे।

६ : कामी पुरुषसे

१—जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो॥

उत्त० २२ : ४१

भले ही तू रूपमें वैश्रवण सदृश हो, और भोग लीलामें नलकूबर या साक्षात् इन्द्र हो—तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती।

२—पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे॥
धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥

उत्त० २२ : ४२, ४३

अगन्धन कुलमें उत्पन्न हुए सर्प जाज्वल्यमान—धूमकेतु अग्निमें जलकर मरना पसन्द करते हैं परन्तु बमन किये हुये विषको वापिस पीनेकी इच्छा नहीं करते। हे कामी ! तू वमनकी हुई वस्तुको पीकर जीवित रहनेकी इच्छा करता है ! इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा। धिक्कार है तुम्हारे यशको !

३—जइ तं काहिसी भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥

उत्त० २२ : ४५

अगर स्त्रियोंको देख देखकर तू इस तरह प्रेम राग किया करेगा तो हवासे हिलते हुए हड वृक्षकी तरह चित्त समाधिको खो बैठेगा।

४—गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि॥

उत्त० २२ : ४६

जैसे ग्वाल गायोंको चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धनकी सम्भाल करनेसे धनका मालिक; वैसे ही केवल वेषकी रक्षा मात्रसे तू साधुत्वका अधिकारी नहीं हो सकेगा। (अतः अपनी आत्माको संभाल और संयममें स्थिर हो)

५—कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥

द० अ० २ : १

जो मनुष्य संकल्प—विषयोंके वश हो, पग-पग पर विषादयुक्त—शिथिल हो जाता है और कामरागका निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्वका पालन कैसे कर सकता है ?

६—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥

द० अ० २ : २ ३

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और पलंग आदि भोग पदार्थोंका परवशतासे—उनके अभावमें—सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कांत भोगोंके सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता।

७—समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

द० अ० २ : ४

यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाश यह मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि वह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूं, मुमुक्ष विषय-रागको दूर करे।

८—आयावयाही चय सोअमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥

द० अ० २ : ५

आत्माको तपाओ, सुकुमालता का त्याग करो। कामनाको दूर करो। निश्चय ही दुःख दूर होगा। संयमके प्रति द्वेषभावको छिन्न करो। विषयोंके प्रति राग-भावका उच्छेद करो। ऐसा करनेसे संसारमें सुखी बनोगे।

७ : परम्परा

१—जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥
उत्त० ३२ : ६

जैसे बलाका अण्डेसे उत्पन्न होता है और अण्डा बलाकासे, उसी प्रकार मोहका उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णाका उत्पत्ति स्थान मोह बताया गया है।

२—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥
उत्त० ३२ : ७

राग और द्वेष—ये दो कर्मोंके बीज—अंकुर हैं। कर्म मोहसे उत्पन्न होता है। कर्म, जन्म और मरणका मूल है और जन्म मरणको दुःखकी परम्परा कहा गया है।

३—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥
उत्त० ३२ : ८

उसने दुःखका नाश कर दिया, जिसके मोह नहीं होता। उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नहीं होती। उसकी तृष्णा नष्ट हो गई, जिसके लोभ नहीं होता। उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिञ्चन है।

४—नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥
उत्त० ३२ : २

सर्व ज्ञानके प्रकाशसे, अज्ञान और मोहके विवर्जनसे तथा राग और द्वेषके क्षयसे जीव एकान्त सुख रूप मोक्षको प्राप्त करता है।

५—तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य॥
उत्त० ३२ : ३

गुरु और वृद्ध संतोंकी सेवा, अज्ञानी जीवोंके संगका दूरसे ही वर्जन, एकाग्र चित्तसे स्वाध्याय और सूत्रार्थका भली प्रकार चिंतन तथा धृति—यह ही एकान्तिक सुखरूप मोक्षको प्राप्त करनेका मार्ग है।

८ : ज्ञान और क्रिया

१—जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥

उत्त० ६ : १

जो भी विद्याहीन—तत्त्वको नहीं जाननेवाले पुरुष है, वे सब दुःखोंके पात्र हैं। इस अनन्त संसारमें मूढ़ मनुष्य वार-वार दुःख पाते हैं।

२—इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ता णं सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

उत्त० ६ : ९

इस संसारमें कई ऐसा मानते हैं कि पाप द्वारोंको बन्द किए बिना—पापोंका त्याग किए बिना—ही केवल आचारको जान लेनेसे जीव सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाता है—छूट जाता है।

३—भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥

उत्त० ६ : १०

ज्ञानसे ही मोक्ष बतलानेवाले पर किसी प्रकारकी क्रियाका अनुष्ठान न करनेवाले ऐसे बन्धमोक्षके व्यवस्थावादी लोग केवल वचनों की वीरता मात्रसे अपनी आत्माको आश्वासन देते हैं।

४—न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥

उत्त० ६ : ११

नाना प्रकारकी भाषाएं—विविध भाषा-ज्ञान जीवको दुर्गतिसे नहीं बचा सकता। जो पाप कर्मोंमें निमग्न हैं और अपनेको पण्डित मानते हैं ऐसे मूर्ख मनुष्योंको भला विद्याओंका सीखना कहांसे रक्षक होगा ?

५—समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाइपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥

उत्त० ६ : २

इसलिए पण्डित पुरुष नाना जातिपथके पाशको—एकेन्द्रिय आदि जीव-योनियोंके पाशको विचार कर आत्मा द्वारा सत्यकी गवेषणा करे और सर्वभूतों—प्राणियोंके प्रति मैत्री भाव रखे।

६—अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥

उत्त० ६ : ७

अपनी ही तरह सर्व प्राणियोंको सर्वतः अपनी-अपनी आत्मा प्रिय है—यह देखकर भय और वैरसे निवृत्त होता हुआ मुमुक्षु प्राणियोंके प्राणकी घात न करे।

७—जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥

उत्त० ६ : १२

जो कोई मनुष्य मन, वचन या कायासे सर्व प्रकारसे शरीर, वर्ण और रूपमें आसक्त होते हैं—वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

८—बहिया उड्ढमादाय, नांवकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥

उत्त० ६ : १४

आत्मिक सुख—जो इन्द्रिय सुखसे परे और ऊंचा है—उसकी इच्छा कर विषयकी कभी भी इच्छा न करे। इस देहका पालन-पोषण आत्म शुद्धिके लिए—पूर्व कर्मोंके क्षयके लिए ही करे।

९ : सच्चा संग्राम

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण परिमन्थए ॥
तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

उ० ६ : २०-२२

श्रद्धारूपी नगर कर, तप-संवर रूप अर्गला बना, क्षमारूपी मजबूत कोट बना, मन, वचन और कायारूपी बुर्ज, खाई और शतघ्नि—इन गुप्तियोंसे उसे सुरक्षित और अजय कर, पराक्रम रूपी धनुष्य ले, उस पर इर्या समिति रूपी प्रत्यञ्चा चढ़ा, उसे धृति रूपी मूठसे पकड़, सत्यरूपी चाप द्वारा उसे खींच, तपरूपी वाणसे कर्मरूपी कंचुक—कवचको भेदन करनेवाला मुनि संग्रामका हमेशाके लिए अन्त ला संसारसे मुक्त हो जाता है।

१० : यज्ञ

१—छज्जीवकाए असमारभन्ता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं, एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥

उत्त० १२ । ४१

(विशुद्ध यज्ञकी कामना करने वाले) छः प्रकारके जीवकायका समारम्भ—हिंसा न करते हुए, झूठ और चोरीका सेवन न करते हुए, परिग्रह, स्त्रियां और मानमायाका परित्याग करते हुए दमेन्द्रिय होकर रहे।

२—सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥

उत्त० १२ । ४२

जो पांच संवरोंसे सुसंवृत हैं, जो एहिक जीवनकी आकांक्षा नहीं करते, जो कायाकी ममता छोड़ चुके हैं तथा जो पवित्र और त्यक्तदेह हैं, वे ही महाजयके हेतु श्रेष्ठ यज्ञको करते हैं।

३—तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

उत्त० १२ । ४४

तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है। मन, वचन, कायाके योग कुडछी है, शरीर कारिषांग है, कर्म इंधन है, संयमयोग शान्तिपाठ है। ऐसे ही होमसे मैं हवन करता हूं। ऋषियोंने ऐसे ही होमको प्रशस्त कहा है।

११ : तीर्थ स्नान

धम्मे हरए बम्मे सन्तितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥
एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते॥

उत्त० १२ : ४६-४७

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति तीर्थ है, आत्माकी प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहां स्नान कर आत्मा विशुद्ध होती है।

इस प्रकार अत्यन्त शीतल होकर दोषरूपी मलको छोड़ता हूं। ऐसा ही स्नान कुशल पुरुषों द्वारा भली प्रकार देखा गया है और यही महास्नान ऋषियोंके लिए प्रशस्त है। ऐसा ही स्नान कर विमल और विशुद्ध हो महर्षि उत्तम स्थानको प्राप्त हुए है।

१२ : विषय गृद्धि और विनाश

१—सद्दस्स सोयं गहणं वयंति, सोयस्स सद्दं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥
उ० ३२ : ३६

कान शब्दका ग्राहक है और शब्द कानका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर शब्द रागका कारण बतलाया गया है और अमनोहर द्वेषका।

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं॥
उ० ३२ : ३७

जिस तरह शब्दमें मुग्ध बना रागातुर हरिण-मृग अतृप्त ही मृत्यु का ग्रास वनता है, उसी तरह शब्दके विषयमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला पुरुष अकालमें ही विनाशको प्राप्त होता है।

एमेव सद्दंमि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥
उ० ३२ : ४६

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है, जो विपाककालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

२—रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

उ० ३२ : २३

चक्षु रूपको ग्रहण करता है और रूप चक्षुका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर रूप रागका कारण बतलाया गया है और अमनोहर रूप द्वेषका।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥

उ० ३२ : २४

जिस तरह रागातुर पतंग आलोकमें मोहित हो अतृप्त अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त करता है, उसी तरह रूपमे तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही मरणको प्राप्त होता है।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

उ० ३२ : ३३

इसी तरह रूपके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है, जो विपाक कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

३—गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

उ० ३२ : ४९

नाक गन्धको ग्रहण करता है और गन्ध नाकका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। सुगन्ध रागकी हेतु बताई गई है और दुर्गन्ध द्वेषकी हेतु।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥

उ० ३२ : ५०

जिस तरह रागातुर सर्प ओषधिकी गन्धसे गृद्ध हो बिलसे निकलता हुआ विनाश पाता है उसी तरह गंधमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उ० ३२ : ५६

इसी तरह गन्धके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है जो विपाककालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

४—रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उ० ३२ : ६२

जिह्वा रसको ग्रहण करती है और रस जिह्वाका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर रस रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर रस द्वेषका।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥

उ० ३२ : ६३

जिस तरह रागातुर मछली आमिष खानेकी गृद्धिके वश कांटेसे बिंधी जाकर मरणको प्राप्त होती है, उसी तरह जो रसमें तीव्र गृद्धि रखता है वह अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उ० ३२ : ७२

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है जो विपाक कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

५—फासस्स कायं गहणं वयंति, कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उत्त० ३२ : ७५

काया स्पर्शकी ग्राहक है और स्पर्श कायाका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर स्पर्श रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर स्पर्श द्वेषका।

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने, गाहग्गहीए महिसे वरण्णे ॥

उत्त० ३२ : ७६

जिस तरह जंगलके शीतल जलाशयमें निमग्न रागातुर महिष ग्राह द्वारा पकड़ी जाती है, उसी तरह स्पर्शके विषयमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव फासंभि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह परंपराओ।
पदुट्ठ चित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उत्त० ३२ : ८५

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषका प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराको प्राप्त करता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है जो विपाक-कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

६—भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥
उत्त० ३२ : ८८

मन भावको ग्रहण करता है और भाव मनका ग्राह्य-विषय है । मनोहर भाव रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर भाव द्वेषका ।

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ॥
उत्त० ३२ : ८९

जिस तरह कामभावमें गृद्ध और रागातुर हाथी हथिनीके द्वारा मार्ग-भ्रष्ट कर दिया जाता है, उसी तरह भावके विषयमें तीव्र गृद्धि रखने वाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त होता है ।

एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥
उत्त० ३२ : ९८

इसी तरह भावके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूह की परम्पराको प्राप्त होता है । प्रदुष्ट चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है, जो विपाक-कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं ।

१३ : तृष्णा और दुःख

१—सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥
उत्त० ३२ : ४०

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भावकी तृष्णासे वशीभूत अज्ञानी जीव अपने स्वार्थके लिए चराचर नाना प्रकारके जीवोंकी हिंसा करता है। उन्हें कई प्रकारसे परिताप देता और पीड़ा पहुंचाता है।

२—सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥
उत्त० ३२ : ४१

शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव इनकी लालसाके कारण परिग्रह, उत्पादन, रक्षण और प्रबन्धकी चिन्ता लगी रहती है; विनाश और वियोगका भय बना रहता है और सम्भोग कालमें अतृप्ति रहती है। ऐसी हालतमें मनुष्यको विषयोंमें सुख कहांसे हो सकता है?

३–सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥
उत्त० ३२ : ४२

शब्दादि विषयोंमें अतृप्त और परिग्रहमें आसक्त जीव कभी संतोषको प्राप्त नहीं होता। इस असंतोष भावके कारण दुःखी हो लोभवश दूसरोंकी चीजोंको चोरी करने लगता है।

४—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

उत्त० ३२ : ४३

तृष्णासे अभिभूत, चौर्य कर्ममें प्रवृत्त और शब्दादि विषयों और परिग्रहमें अतृप्त पुरुष लोभके दोषसे माया और मृषाकी वृद्धि करता है; तथापि वह दुःखसे मुक्त नहीं हो पाता।

५—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

उत्त० ३२ : ४४

मृषावादके पहले और पीछे तथ मृषावाद करते समय वह दुरंत दुष्ट कर्म करनेवाली आत्मा अवश्य दुःखी होती है। चोरीमे प्रवृत्त और शब्दादिमें अतृप्त हुई आत्मा दुःखको प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता।

६—सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

उत्त० ३२ : ४५

शब्दादि विषयोंमें आतुर पुरुषको उपरोक्त परिस्थितिओंमें कैसे सुख हो सकता है? शब्दादि विषयोंके उपभोगकालमें भी वह क्लेश और दुःखको ही एकत्रित करता है।

१५ : वीतराग कौन ?

१—चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥
उत्त० ३२ : २२

रूप चक्षुका ग्राह्य है। रूप चक्षुका विषय है। यह जो रूपका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो रूपका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो इन दोनोंमें समभाव रखता है, वह वीतराग है।

२—सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥
उत्त० ३२ : ३५

शब्द श्रोत ग्राह्य है। शब्द कानका विषय है। यह जो शब्दका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो शब्दका अप्रिय लगना है उसे द्वेषका हेतु। जो इन दोनोंमें समभाव रखता है, वह वीतराग है।

३—घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोष हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥
उत्त० ३२ : ४८

गंध घ्राण ग्राह्य है। गंध नाकका विषय है। यह जो गंधका

प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो गंधका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

४—जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयराओ।

उत्त० ३२ : ६१

रस जिह्वा ग्राह्य है। रस जिह्वाका विषय है। यह जो रसका प्रिय लगाना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो रसका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

५—कायस्स फासं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

उत्त० ३२ : ७४

स्पर्श काय ग्राह्य है। स्पर्श शरीरका विषय है। यह जो स्पर्शका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो स्पर्शका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

६—मणस्स भावं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

उत्त० ३२ : ८७

भाव मन ग्राह्य है। भाव मनका विषय है। यह जो भावका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो भावका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

१५ : विषय और विकार

१—एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥

उत्त० ३२ : १००

इन्द्रियोंके और मनके विषय रागी मनुष्यको ही दुःखके हेतु होते हैं। ये ही विषय वीतरागको कदाचित् किंचित् मात्र भी—थोड़ा भी दुःख नहीं पहुंचा सकते।

२—सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

उत्त० ३२ : ४७

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, और भाव इनके विषयोंसे विरक्त पुरुष शोक रहित होता है। वह इस संसारमें बसता हुआ भी दुःख समूहकी परम्परासे उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह पुष्करिणीका पलाश जल से।

३—न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

उत्त० ३२ : १०१

कामभोग—शब्द रूप आदिके विषय समभाव—उपशमके हेतु नहीं हैं और न य विकारके हेतु हैं। किन्तु जो उनमें परिग्रह—राग

अथवा द्वेष करता है वही मोह—राग द्वेषके कारण विकारको उत्पन्न करता है।

४—विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वतयंती अमणुन्नयं वा ॥
उत्त० ३२ : १०६

जो इन्द्रियोंके शब्दादि नाना प्रकारके विषयोंसे विरक्त है उसके लिए ये सब विषय मनोज्ञता या अमोनज्ञताका भाव पैदा नहीं करते।

५—कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुच्छं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं, नपुसंवेयं विविहे य भावे॥
आवज्जई एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्ण दीणे हिरिमे वइस्से॥
उत्त० ३२ : १०२, १०३

जो काम गुणोंमें आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद आदि विविध भाव और इसी तरह इसी प्रकारके विविध रूपोंको प्राप्त होता है तथा अन्य भी इनसे उत्पन्न विशेष करुणा, दीनता, लज्जा और घृणाके भावोंका पात्र बन जाता है।

६—सवीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं॥
उ० ३२ । १०८ ॥

जो वीतराग है, वह सर्व तरहसे कृतकृत्य है। वह क्षण मात्रमें ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय कर देता है और इसी तरहसे जो दर्शनको ढकता है, उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय कर्मका भी क्षय कर डालता है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥
उ० ३२। १०९ ॥

तदनन्तर वह आत्मा सब कुछ जानती देखती है तथा मोह और अन्तरायसे सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवोंसे रहित ध्यान और समाधिसे युक्त वह विशुद्ध आत्मा; आयु समाप्त होने पर मोक्षको प्राप्त करती है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥
उ० ३२। ११० ॥

फिर वह सर्व दुःखसे जो जीवको सतत् पीड़ा देते हैं, मुक्त हो जाती है। दीर्घ रोगसे विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त सुखी होती है।

१९ : बाल वीर्य : पण्डित वीर्य

१—दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चई।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई॥

सू० १, ८ : १

वीर्य दो प्रकारका कहा गया है। वीर पुरुषकी वीरता क्या है? किस कारण वह वीर कहा जाता है?

२—कम्ममेगे पवेदेन्ति, अकम्मं वा वि सुव्वया।
एएहिं दोहि ठाणेहिं, जेहिं दीसन्ति मच्चिया॥

सू० १, ८ : २

हे सुव्रती! कई कर्मको वीर्य कहते हैं और कई अकर्मको वीर्य कहते हैं। मृत्युलोकके सब प्राणी इन्ही दो भेदोंमें देखे जाते हैं।

३—पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वा वि, बालं पंडियमेव वा॥

सू० १, ८ : ३

ज्ञानियोंने प्रमादको कर्म और अप्रमादको अकर्म कहा है। अत: प्रमादके होनेसे बालवीर्य और अप्रमादके होनेसे पण्डित वीर्य होता है।

४—सत्थमेगे तु सिक्खंता, अइवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो॥

सू० १, ८ : ४

कई बाल-मूर्ख जीव, प्राणियोंका वध करनेके लिए शस्त्र विद्या सीखते हैं और कई प्राणभूतोंके विनाशक मंत्रोंकी आराधना करते हैं।

५—मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो।
आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया॥

सू० १, ८ : ६

असंयमी पुरुष मन, वचन और कायासे अपने लिए या परके लिए शत्रुता करते और कराते हैं।

६—वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो॥

सू० १, ८ : ७

वैरी वैर करता है और फिर दूसरोंके वैरका भागी होता है। इस तरह वैरसे वैर आगे बढ़ता जाता है। पापोत्पन्न करनेवाले आरम्भ अन्तमें दुःखकारक होते हैं।

७—संपरायं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो।
रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं॥

सू० १, ८ : ८

बाल—मूर्ख जीव, राग-द्वेषके आश्रित हो अनेक पाप करते हैं। जो अपनी आत्मासे दुष्कृत करते हैं वे साम्परायिक कर्मका बन्धन करते हैं।

८—एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे॥

सू० १, ८ : ९

यह बाल जीवोंका सकर्म वीर्य कहा है; अब पण्डितोंका अकर्म वीर्य मुझसे सुनो।

९—नेयाउयं सुयक्खायं, उवायाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा॥
सू० १, ८ : ११

बाल वीर्य पुनः पुनः दुःखावास है। प्राणी बालवीर्यका जैसे जैसे उपयोग करता है वैसे वैसे अशुभ होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये नेता—मोक्षकी ओर ले जानेवाले मार्ग कहे गये हैं। इन्हें ग्रहण कर पण्डित अपनी मुक्तिका उद्योग करे।

१०—दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे।
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कंतइ अन्तसो॥
सू० १, ८ : १०

जो राग-द्वेषसे रहित होता है, जो कषायरूपी बन्धनसे उन्मुक्त है, जो सर्वशः स्नेह बन्धनोंको काट चुका वह पाप कर्मोंको रोक, अपनी आत्मामें लगे हुए शल्यको समूलतः उखाड़ डालता है।

११—ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ।
अणियए अयं वासे णायएहि सुहीहि य॥
एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं॥
सू० १, ८ : १२-१३

इसमें संशय नहीं कि विविध स्थानोंके स्थानी—वासी, अपने-अपने स्थानों—वासोंको कभी न कभी छोड़ेंगे। ज्ञाति और सुहृदोंके साथ यह संवास अनित्य है। पण्डित ऐसा विचार कर आत्माके ममत्वभावको उच्छेद डाले तथा सर्वधर्मोंसे अनिन्द्य आर्य धर्मको ग्रहण करे।

१२—जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अन्तरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पण्डिए॥

सू० १, ८ : १५

पण्डित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयुका क्षयकाल जाने तो उसके पहले ही शीघ्र संलेखनारूप शिक्षाको ग्रहण करे।

१३—अइक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए।
सव्वओ संवुडे दन्ते, आयाणं सुसमाहरे॥

सू० १, ८ : २०

सच्चा वीर, मन, वचन और कायासे किसी प्राणीका अतिक्रम करना न चाहे। बाहर और भीतर सब ओरसे गुप्त और दान्त पुरुष मोक्ष देनेवाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी वीरताको अच्छी तरह ग्रहण करे।

१४—कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणन्ति, आयगुत्ता जिइंदिया॥

सू० १, ८: २१

आत्मगुप्त जितेन्द्रिय पुरुष किसीके द्वारा किये गये तथा किये जाते हुए और भविष्यमें किये जानेवाले पापोंका अनुमोदन नहीं करता।

१५—झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउस्सेज सव्वसो।
तितिक्खं परमं नच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि॥

सू० १, ८ : २६

पण्डित पुरुष ध्यानयोगको ग्रहण कर, सर्व प्रकारसे शरीर, मन और कायाको बुरे व्यापारोंसे हटावे। तितिक्षाको परम प्रधान समझ शरीरपात पर्यन्त संयमका पालन करता रहे।

१६—अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए।
आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं॥

सू० १, ८ : १८

पण्डित पुरुष बुरे फलको जान अणुमात्र भी माया और मान न करे। मोक्षार्थको—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी मुक्ति-मार्गको—ग्रहण कर धैर्यपूर्वक क्रोधादि विकारोंको जीतनेका पराक्रम—यही वीर्य है और ऐसा वीर्य-पराक्रम ही वीर पुरुषकी वीरता है।

१७—जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥

सू० १, ८ : २२

जो अबुद्ध हैं—परमार्थको नहीं जानते और सम्यग्दर्शनसे रहित हैं ऐसे संसारमें पूजे जानेवाले वीर पुरुषोंका सासारिक पराक्रम अशुद्ध है और वह संसार-वृद्धिमें सर्वशः सफल होता है।

१८—जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो॥

सू० १, ८ : २३

जो बुद्ध हैं—परमार्थको जाननेवाले हैं और सम्यग्दर्शनसे सहित हैं, उन महाभाग वीरोंका आध्यात्मिक पराक्रम शुद्ध होता है और वह संसार-वृद्धिमें सर्वशः निष्फल होता है।

१७ : बाल मरण : पण्डित मरण

१—सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा॥

उत्त० ५ : २

मरणान्तके ये दो स्थान कहे गये हैं—एक अकाममरण और दूसरा सकाममरण।

२—बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे॥

उत्त० ५ : ३

बालोंका—मूर्खोंका अकाममरण निश्चय ही बार-बार होता है; किन्तु पण्डितोंका सकाममरण उत्कर्षसे एक ही बार होता है।

३—हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई॥

उत्त० ५ : ६

हिंसा करनेवाला, झूठ बोलनेवाला, छल-कपट करनेवाला, चुगली खानेवाला, शठता करनेवाला तथा मांस और मदिरा खाने-पीनेवाला मूर्ख जीव—ये कार्य श्रेय हैं—ऐसा मानता है।

४—तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई॥

उत्त० ५ : ८

फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवोंको कष्ट पहुंचाना शुरू करता है तथा प्रयोजनसे या बिना प्रयोजन ही प्राणी समूहकी हिंसा करता है।

५—कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागो व्व मट्टियं ॥

उत्त० ५ : १०

जो काया और वाचासे अभिमानी है और कामिनी कांचनमें गृद्ध है, वह राग और द्वेष दोनोंसे उसी प्रकार कर्म-मलका संचय करता है, जिस तरह शिशुनाग मुख और शरीर दोनोंसे मिट्टीका।

६—तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

उत्त० ५ : ११

फिर वह मूर्ख जीव आतंकसे स्पृष्ट होनेपर अपने कर्मोंको देख, परलोकसे भयभीत हो, ग्लानि पाता हुआ परिताप करता है।

७—सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥

उत्त० ५ : १२

तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई, धुत्तेव कलिणा जिए ॥

उत्त० ५ : १६

'शील रहित क्रूरकर्म करनेवाले मूर्ख मनुष्योंकी जो गति होती है वह मैंने सुनी है। उन्हें नर्कमें स्थान मिलता है, जहां प्रगाढ़ वेदना है'—मरणान्तके समय मूर्ख मनुष्य इसी तरह भयसे संत्रस्त होता है और आखिर, एक ही दावमें हार जानेवाले जुआरीकी तरह, अकाम मृत्युसे मरता है।

९—मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ॥

उत्त० ५ : १८

बाल-मूर्ख जीवोंके अकाम मरणको मुझसे सुना है, उसी तरह पुण्यवान और जितेन्द्रिय संयमियोंके प्रसन्न और आघातरहित सकाम-मरणको भी सुनो।

१०—न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥

उत्त० ५ : १९

यह सकाममरण न सब भिक्षुओंको प्राप्त होता है और न सब गृहस्थोंको। क्योंकि गृहस्थोंके नाना—त्रिविध शील है और भिक्षु विषम-शील हैं—सब समान शीलवाले नहीं।

११—अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥

उत्त० ५ : २३

श्रद्धालु अगारी—गृहस्थ सामायिकके अगोंका कायासे सम्यक् रूप से पालन करे। दोनों पक्षोंमें एक रातको भी[1] बाद न देता हुआ पौषध करे।

१२—एवं सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥

उत्त० ५ : २४

इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती गृहवास करता हुआ भी हाड़-मांसके

१—अमावस्या और पूर्णिमा।

इस शरीरको छोड़ यक्षलोक—देवलोकको जाता है।

१३—अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए॥

उत्त० ५ : २५

तथा जो संवृतात्मा भिक्षु है, वह दोनोंमेंसे एक गतिको पाता है। या तो वह सर्व दुःख क्षय हो गये हैं जिसके ऐसा सिद्ध होता है अथवा महाऋद्धिवाला देव होता है।

१४—ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा॥

उत्त० ५ : २८

संयम और तपके अभ्यास द्वारा जो वासनासे परिनिवृत हैं वे भिक्षु हों या गृहस्थ—दिव्य देवगतिको जाते हैं।

१५—तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया॥

उत्त० ५ : २९

पूज्य जितेन्द्रिय संयमियोंकी मनोहर गतिको सुनकर, शीलसम्पन्न और बहुश्रुत पुरुष मरणान्तके समय संतृप्त नहीं होते।

१६—तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा॥

उत्त० ५ : ३०

अकाम और सकाम—इन दोनों मरणोंको तोल, विवेकी पुरुष विशेषको ग्रहण करे। क्षमा द्वारा दया-धर्मका प्रकाश कर मेधावी तथाभूत आत्मासे अपनी आत्माको प्रसन्न करे।

१७—तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए॥

उत्त० ५ : ३१

बादमें श्रद्धावान पुरुष काल—अवसर—आनेपर गुरुजनोंके समीप, रोमाञ्चकारी मृत्युभयको दूर कर देहभेदकी चाह करे।

१८—अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी॥

उत्त० ५ : ३२

कालके उपस्थित होनेपर, संलेखना आदिके द्वारा शरीरका अन्त करता हुआ साधु, मृत्युके तीन प्रकारोंमें से किसी एकके द्वारा सकाम मृत्युको प्राप्त करे।

१८ : दृष्टान्त

[१]

१—जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोई पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयङ्गणे॥
तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे।
पोणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए॥
जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई॥
जहा से खलु ओरब्भे, आएसाए समीहिए।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं॥

उत्त० ७ : १-४

जैसे कोई अतिथिके उद्देश्यसे एलकका पोषण करता है, उसे चावल और जौ खिलाता है और अपने आंगनमें रखता है और जैसे इस तरह पोषा हुआ वह एलक पुष्ट, परिवृद्ध, जातमेद, महाउदर और विपुल देहवाला होनेपर अतिथिकी प्रतीक्षामात्रके लिए होता है।

इस तरह जैसे वह एलक निश्चय रूपसे अतिथिके लिए ही पोषा जाता है—जब तक अतिथि नहीं आता तब तक जीता है पर अतिथिके आनेपर शिरसे छेदा जाता है उसी प्रकार अधर्मिष्ठ मूर्ख मनुष्य मानो नरकायुके लिए ही पुष्ट होता है।

२—हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं न हरे सढे॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, परिवूढे परंदमे॥
अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए॥

उत्त० ७ : ५-७

जो मूर्ख, हिंसक है, झूठ बोलनेवाला है, मार्गमें लूटनेवाला है, बिना दी हुई वस्तुको लेनेवाला चोर है, मायी है, और किसको हरण करूँ—ऐसे विचारवाला शठ है, जो स्त्री और विषयोंमें गृद्ध है, जो महारम्भी और महापरिग्रही है, जो सुराका पान करनेवाला है, बलवान होकर दूसरेको दमन करनेवाला है और जो कर्कर कर बकरेके मांसको खानेवाला है—ऐसा बड़े पेट और उपचित लोहीवाला मूर्ख ठीक उसी तरह नर्कायुकी आकांक्षा करता है जिस तरह पोषा हुआ एलक अतिथि को।

३—आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं॥
तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई॥
तओ आउपरिक्खीणे, चुयादेहा विहिंसगा।
आसुरीयं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं॥

उत्त० ७ : ८-१०

आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगोंको भोग मूर्ख जीव कर्म रजको संचित कर गुरु बन जाता है। केवल वर्तमानको ही देखनेवाला ऐसा कर्मगुरु—कर्मोंसे भारी बना—प्राणी कष्टसे प्राप्त धनको यहीं

छोड़कर जाता हुआ मरणान्त कालमें उसी प्रकार सोच करता है जिस तरह पुष्ट एलक अतिथिके आनेपर। (अतिथिके पहुचनेपर जैसे एलक शिरसे छेदा जाकर खाया जाता है) उसी तरह आयुष्यके क्षीण होने पर नाना प्रकारकी हिंसा करनेवाले मूर्ख, देहको छोड़, परवश बने अन्धकारयुक्त नरक दिशा—नरक गतिकी ओर जाते हैं।

[२]

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए॥
एवं माणुस्सगा कामा, देव कामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया॥
अणेगवासानउया जा, सा पण्णवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए॥

उत्त० ७ : ११-१३;

जैसे एक काकिणीके लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरको हार देता है और जैसे अपथ्य आमको खाकर राजा राज्यको हार देता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगोके लिए उत्तम सुखों—देव-सुखोंको खो देता है।

मनुष्योंके कामभोग—सहस्रगुण करनेपर भी आयु और भोगकी दृष्टिसे देवताओंके काम ही दिव्य होते हैं। मनुष्योंके काम देवताओंके कामोंके सामने वैसे ही हैं जैसे सहस्र मोहरके सामने काकिणी व राज्य के सामने आम। प्रज्ञावानकी देवलोकमें जो अनेक वर्षनयुतकी स्थिति है उसको दुर्बुद्धि—मूर्ख जीव—सौ वर्षसे भी न्यून आयुमें विषयभोगोंके वशीभूत होकर हार देता है।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥

उत्त० ७ : २४

इस सीमित आयुमें ये कामभोग कुशके अग्रभागके समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतुको सामने रखकर आगेके योगक्षेमको नहीं समझते ?

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥

उत्त० ७ : २८, २९

हे मनुष्य ! तू बाल जीवकी मूर्खता तो देख, जो अधर्मको ग्रहण कर तथा धर्मको छोड़ अधर्मिष्ठ हो नर्कमें उत्पन्न होता है।

हे मनुष्य ! तू धीर पुरुषकी धीरता तो देख, जो सब धर्मोंका पालन कर, अधर्मको छोड़ धर्मिष्ठ हो देवोंमें उत्पन्न होता है।

[३]

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

उत्त० ५ : १४, १५

जिस तरह कोई जानकार गाड़ीवान समतल विशाल मार्गको छोड़ कर विषम मार्गमें पड़ जाता है और गाड़ीकी धुरी टूट जानेसे सोच करता है उसी तरह धर्मको छोड़ अधर्ममें पड़नेवाला मूर्ख मृत्युके मुंहमें पड़ा हुआ जीवनकी धुरी टूट जानेकी तरह शोक करता है।

[४]

१—जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥

उत्त० ७ : १४, १५

तीन वणिक् मूल पूंजीको लेकर घरसे निकले। उनमेसे एकने लाभ उठाया. दूसरा मूलको लेकर आया और तीसरा मूल पूंजीको भी खोकर आया। जैसे व्यवहारमें यह उपमा है वैसे ही धर्मके विषयमें भी जानो।

२—माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं॥

उत्त० ७ : १६

मनुष्य जीवन यह मूल धन है। देवगति लाभस्वरूप है। मूलधनके नाशसे जीवोंकों निश्चय ही हारस्वरूप नरक तिर्यञ्च गति मिलती है।

३—दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे॥
तओ जिए सई होई, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि॥

उत्त० ७ : १७, १८

धूर्त्त और लोलुप, अज्ञानी जीवकी, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यञ्च ये दो गतियां होती हैं, जो कष्टमूलक और वधमूलक हैं।

नरक और तिर्यञ्च इन दो प्रकारकी दुर्गतियोंमें गया हुआ जीव सदा ही हारा हुआ होता है क्योंकि इन उन्मार्गोंसे निकल विशाल पथपर आना दीर्घकालके बाद भी दुर्लभ है।

४—एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पण्डियं।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥
वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥
उत्त० ७ : १९, २०

इस प्रकार हारे हुएको देखकर तथा बाल और पण्डित भावको तोलकर जो मानुषी योनिमें आते हैं, वे मूलके साथ प्रवेश करते हैं।

५—जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवंकामाण अंतिए ॥
जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सवीसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥
उत्त० ७ : २३, २१

जो नर कम-अधिक शिक्षाओं द्वारा गृहवासमें भी सुव्रती हैं, वे मानुषी योनिको प्राप्त करते हैं। प्राणीके कृत्य हमेशा सत्य होते हैं। उनका फल मिलता ही है।

जैसे कुशके अग्रभागपर रहा हुआ जल समुद्रकी तुलनामें नगण्य होता है उसी तरह मनुष्यके कामभोग देवोंके कामभोगोंके सामने नगण्य होते हैं।

जिन जीवोंकी शिक्षाएँ विपुल हैं वे मूल पूंजीको अतिक्रान्त कर जाते हैं। जो विशेषरूपसे शील और सदाचारसे युक्त होते हैं वे लाभरूप देवगतिको प्राप्त करते हैं।

[५]

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहि दीवयं।
कडमेव गहाय नो कलिं, नो तीयं नो चेव दावरं॥
एवं लोगम्मि ताइणा, बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं, कडमिव सेस वहाय पण्डिए॥

सू० १, २।२ : २३-२४

जुआ खेलनेमें निपुण जुआड़ी जैसे जुआ खेलते समय 'कृत' नामक पाशेको ही ग्रहण करता है, 'कलि', 'द्वापर' और 'त्रेता' को नहीं और पराजित नहीं होता; उसी तरह पण्डित इस लोकमें जगत्राता सर्वज्ञोंने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है उसे ही अपने हितके लिए ग्रहण करे। पण्डित ग्रामधर्मोंको—इन्द्रिय-विषयोंको—उसी तरह छोड़ दे जिस तरह कुशल जुआड़ी 'कृत'के सिवा अन्य पाशोंको छोड़ता है।

[६]

१—जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई॥

उत्त० १ : ४

जैसे सड़े हुए कानोंवाली कुत्ती सब जगहसे दुतकारी जाती है, उसी तरह दुःशील, ज्ञानियोंसे प्रतिकूल चलनेवाला और वाचाल मनुष्य सब जगहसे तिरस्कृत किया जाता है।

२—कण कुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥

उत्त० १ : ५

जैसे अनाजके कुण्डको छोड़ सूअर विष्ठाका भोजन करता है, उसी तरह मृगकी तरह मूर्ख मनुष्य शील छोड़ दुःशीलमें रमण करता है।

३—सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्सय।
विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो॥

उत्त० १ : ६

कुत्ती और सूअरके साथ उपमित दुराचारीकी दुर्दशाको सुन अपनी आत्माका हित चाहनेवाला पुरुष अपनी आत्माको विनयमें—शीलमें—स्थापन करे।

[७]

१—जविणो मिगा जहा संता परियाणेण वज्जिया।
असंकियाइं संकंति संकिआइं असंकिणो॥
परियाणियाणि संकंता पासियाणि असंकिणो।
अन्नाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं॥
अह तं पवेज्ज बज्झं अहे बज्झस्स वा वए।
मुच्चेज्ज पयपासाओ तं तु मंदे न देहई॥
अहियप्पाहियप्पन्नाणे विसमंतेणुवागए।
स बद्धे पयपासेणं तत्थ घायं नियच्छइ॥

सू० १, १ । २ः ६-६

जैसे सुरक्षित स्थानसे भटके हुए चंचल मृग, शंकाके स्थानमें शंका नहीं करते और अशंकाके स्थानमें शंका करते हैं और इस तरह सुरक्षित स्थानमें शंका करते हुए और पाशस्थानमें शका न करते हुए वे अज्ञानी और भयसंत्रस्त जीव उस पाशयुक्त स्थानमें फंस जाते हैं।

यदि मृग उस बन्धनको फांद कर चले जांय या उसके नीचेसे निकल जांय तो पैरके बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं। पर वे मूर्ख यह नहीं देखते।

२—धम्मपन्नवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न सकंति अवियत्ता अकोविया॥
सव्वप्पगं विउक्कस्सं सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे एयमट्ठं मिगे चुए॥
जे एयं नाभिजाणंति मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते घायमेस्संति णंतसो॥

१, १ । २ : ११-१३

जिस तरह हिताहितके विवेकसे शुन्य मृग, विषमान्तमें पहुँच, पद-बन्धनके द्वारा वद्ध होकर वहीं मारे जाते हैं और इस तरह अपना बड़ासे बड़ा अहित करते हैं; इसी तरहसे विवेक शुन्य अज्ञानी मूढ़ धर्मस्थानमें शंका करते हैं और आरम्भमें शंका नहीं करते। लोभ, मान, माया और क्रोधको छोड़ मनुष्य कर्मांश रहित—मुक्त होता है पर अज्ञानी मनुष्य मूर्ख मृगकी तरह इस बातको छोड़ देता है। जो बन्धन-मुक्तिके उपायको नहीं जानते वे मिथ्यादृष्टि अनार्य उसी तरह अनन्त वार घातको प्राप्त करते हैं जिस तरह वह पाशबद्ध मृग।

३—अमणुन्नसमुप्पायं दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता कहं नायंति संवरं॥

१, १ । ३ : १०

अशुभ अनुष्ठान करनेसे दुःखकी उत्पति होती है। जो लोग दुःखकी उत्पतिका कारण नहीं जानते हैं वे दुःखके नाशका उपाय कैसे जान सकते हैं ?

१९ : सम्यक्त्व पराक्रम

[१]

१—संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । ······अणंताणुबंधिकोह-माणमायालोभे खवेइ । नवं च कम्मं न बंधइ । ···मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ । ···अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झई ।······तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ । उत्त० २९ : १

संवेगसे हे भगवान् जीव क्या उपार्जन करता है ?

सवेगसे जीव अनुत्तर—श्रेष्ठ धर्मश्रद्धाको प्राप्त करता है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभका क्षय करता है । नए कर्मोंका बंधन नहीं करता । मिथ्यात्वकी विशुद्धि कर दर्शनका आराधक होता है । दर्शनका आराधक हो जीव उसी भवमें सिद्ध होता है और किसी भी स्थितिमें तीसरे भवका तो अतिक्रमण करता ही नहीं ।

२—निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ । सव्वविसएसु विरज्जइ । ······आरंभपरिच्चायं करेइ । ······ संसार-मग्गं वोच्छिदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ ।

उत्त० २९ : २

निर्वेदसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? निर्वेदसे जीव, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोगोंसे शीघ्र उदासीनता

को प्राप्त करता है। फिर सर्व विषयोंसे विरक्त हो जाता है। फिर आरम्भका परित्याग करता है, जिससे संसार मार्गका छेदनकर सिद्धि-मार्गको ग्रहण करनेवाला होता है।

३—धम्मसद्धाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

धम्मसद्धाएणं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ।

उत्त० २६ : ३

धर्मश्रद्धासे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? धर्मश्रद्धा से सातासुखमें अनुरागी जीव विषय सुखोंसे विरक्त होता है।

४—गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं विणयपडिवत्ति जणयइ।

उत्त० २६ : ४

गुरु और सधर्मीकी शुश्रूसासे जीव क्या उपार्जन करता है? इससे जीव विनय प्रतिपत्तिको प्राप्त करता है।

[२]

१—कोहविजएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

कोहविजएणं खंतिं जणयइ। उत्त० २६ : ६७

क्रोध विजयसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है? क्रोध विजयसे क्षान्तिको उत्पन्न करता है।

२—माणविजएणं भन्ते! जीव किं जणयइ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ। उत्त० २६ : ६८

मान विजयसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है? मान विजयसे जीव मार्दव भावको उत्पन्न करता है।

३—मायाविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं अज्जवं जणयइ। **उत्त० २९ : ६९**

माया विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

माया विजयसे जीव आर्जव भावको उत्पन्न करता है।

४—लोभविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ।

लोभविजएणं संतोसं जणयइ। **उत्त० २९ : ७०**

लोभ विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

लोभ विजयसे जीव सन्तोष भावका उत्पन्न करता है।

[३]

१—वीयरागयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वीयरागयाए णं नेहाणुवंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ। मणुन्नामणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसंगधेसु सचित्ताचित्तमीसएसु चेव विरज्जइ। **उत्त० २९ : ४५**

वीतरागतासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? वीतरागतासे स्नेहानुबन्ध तथा तृष्णानुबन्धका व्यवच्छेद हो जाता है। फिर प्रिय-अप्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सचित, अचित और मिश्र द्रव्योंसे विरक्ति हो जाती है।

२—खंतीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? खंतीए णं परीसहे जिणेइ। **उत्त० २९ : ४६**

क्षान्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? क्षान्तिसे जीव परिषहों—कष्टोंको जीतता है।

३—मुत्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ। **उत्त० २९ : ४७**

मुक्ति—निर्लोभतासे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? निर्लोभतासे जीव अकिंचनताको उत्पन्न करता है—अकिंचनता से जीव अर्थलोलुपी पुरुषोंका अप्रार्थनीय हो जाता है—उसे चोर आदिका भय नहीं रहता।

४—अज्जवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं. अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।

उत्त० २६ : ४८

आर्जवसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है? आर्जवसे कायाकी ऋजुता, भावोंकी ऋजुता, भाषाकी ऋजुता एवं अविसंवादता उत्पन्न करता है।

५—मद्दवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दव-संपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ। उत्त० २६ : ४६ ॥

मार्दवसे हे भवगन्! जीव क्या उपार्जन करता है? मार्दवसे जीव अनुत्सुकता उत्पन्न करता है। मृदुमार्दवसे सम्पन्न अनुत्सुक जीव आठ गद स्थानोंका क्षय कर देता है।

[४]

१—भावसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंत-पन्नत्तस्स धमस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ······परलोग धम्मस्स आराहए भवइ। उत्त० २६ : ५०

भाव सत्यसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? भाव

सत्यसे जीव भाव विशुद्धि उत्पन्न करता है, जिससे जीव अर्हन्त प्रतिपादित धर्मकी आराधनाके लिए उद्यत होता है और इससे फिर परलोकमें धर्मका आराधक होता है।

२—करणसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ। उत्त० २९ : ५१

करण-सत्यसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? करण-सत्यसे जीव सत्यक्रियाकी शक्ति उत्पन्न करता है। करणसत्यमें स्थित जीव जैसी कथनी वैसी करनीवाला होता है।

३—जोगसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ। उत्त० २९ : ५२

योग सत्यसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? योग-सत्यसे जीव योगोंकी विशुद्धि—मन, वचन, कायाकी प्रवृतिकी शुद्धि करता है।

[५]

१—मणगुत्तयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ। उत्त० २९ : ५३

मन गुप्तिसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? मन गुप्तिसे जीव एकाग्रताको उपार्जन करता है। एकाग्र चित्तवाला मनोगुप्त जीव संयमका आराधक होता है।

२—वयगुत्तयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ। निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ। उत्त० २९ : ५४

वचन गुप्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? वचन गुप्तिसे निर्विकार भावको उत्पन्न करता है। फिर उस निर्विकार भावसे वह वचनगुप्त जीव आध्यात्म योगके साधनसे युक्त होता है।

३—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? कायगुत्तयाए संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ। उत्त० १६ : ५५

काय गुप्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? काय गुप्तिसे संवर उत्पन्न करता है और फिर संवरसे वह कायगुप्त जीव पापास्रवका निरोध करता है।

[६]

१—आलोयणाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोयणाएणं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्ख मग्गविग्घाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जु-भावं च जणयइ।......अमाइत्थीवेनपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ। उत्त० २६ : ५

आलोचनासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आलोचनासे जीव मोक्षमार्गमें विघ्न करनेवाले और अनन्त संसार को बढ़ानेवाले माया, निदान और मिथ्या दर्शन रूपी शल्यको दूर करता है। तथा ऋजुभावको उत्पन्न करता है। ऋजुभावी अमायावी जीव स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका बन्धन नहीं करता। पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है।

२ – निंदणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निंदणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ।......मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ। उत्त० २६ : ६

आत्म-निन्दा[1]से हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आत्म-निन्दासे जीव पश्चात्ताप उत्पन्न करता है। पश्चात्तापके कारण पापोंसे विरक्त जीव करण[2]गुणश्रेणीको प्राप्त करता है। और इससे अन्तमें मोहनीय कर्मका नाश करता है।

३—गरहणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ।... ...अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेई। पसत्थे य पडिवज्जइ......अणंतघाइपज्जवे खवेइ। उत्त० २६ : ७

आत्म-गर्हा[3]से हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आत्म-गर्हासे जीव अपुरस्कार—आत्म-नम्रताको उत्पन्न करता है। फिर वह अप्रशस्त योगसे निवृत्त होता है और प्रशस्त योगको ग्रहण करता है और इससे अन्तमें अनन्तघाती पर्यायों[4]का क्षय करता है।

४—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ। निरइयारे

१—आत्माके दोषोंका चिन्तन—उनकी निन्दा।

२—पहले नहीं अनुभव की हुई मनकी निर्मलता।

३—दूसरेके समक्ष अपने दोषोंको प्रगट करना।

४—आत्माकी अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और सुखकी शक्तिको आवरण करनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म।

आवि भवइ।……मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ। **उत्त० २९ : १६**

प्रायश्चितसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

प्रायश्चितसे जीव पापकर्मविशुद्धिको प्राप्त करता है तथा निरतिचार हो जाता है। मार्ग और मार्गफलकी विशुद्धि करता है और आचार तथा आचारफलकी आराधना करता है।

५—खमावणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ। …सव्वपाण भूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ।…भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ। **उत्त० २९ : १७**

क्षमापनासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

क्षमापनासे जीव प्रह्लादभाव—चित्तकी प्रसन्नताको उत्पन्न करता है, जिससे सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वोंके प्रति मैत्रीभावको उत्पन्न करता है। मैत्रीभावको उत्पन्न कर जीव भाव विशुद्धि कर निर्भय होता है।

[७]

१—संजमेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ। **उत्त० २९ : २६**

संयमसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

संयमसे अनास्रव अवस्थाको उत्पन्न करता है।

२—तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेणं वोदाणं जणयइ। **उत्त० २९ : २७**

तपसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

तपसे व्यवदान—पूर्व कर्मोंका क्षय कर आत्मशुद्धि उत्पन्न करता है।

३—वोदाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ॥ उत्त० २९ : २८

व्यवदानसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

इससे जीव अक्रिया (क्रियाके अभाव) को उत्पन्न करता है, जिससे वह फिर सिद्ध, बुद्ध, युक्त, परिनिवृत्त और सर्व दुःखोंका अन्त करने वाला होता है।

[८]

१—कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।

उत्त० २९ :३६

कषाय प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता ?

इससे जीव वीतराग भावको उत्पन्न करता है, जिससे वह सुख दुःखमें समान भाववाला होता है।

२—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? **जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ।** उत्त० २९ : ३७

योग प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

इससे जीव अयोगित्व—मन, वचन, कायाकी प्रवृत्तिसे शून्यता

को प्राप्त करता है। ऐसा जीव फिर नए कर्मोंका बन्ध नहीं करता तथा पूर्ववद्ध कर्मोंको झाड़ देता है।

[९]

१—एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ।

उत्त० २६ : २५

एकाग्रमन: संनिवेशनासे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

इससे जीव चित्त निरोध करता है।

२—विणियट्टणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाएणं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ। उत्त० २६ : ३२॥

विनिवर्तनासे—विषय वासनाके त्यागसे—जीव क्या उपार्जना करता ?

इससे जीव पाप कर्मोंको न करनेके लिये उद्यत होता है। फिर पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेसे पाप कर्मकी निवृत्ति करता है। जिससे वादमें चतुर्गति रूप संसारकान्तारको पार करता है।

३—भत्तपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ।

उत्त० २६ : ४०

भक्त—आहार—प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आहार प्रत्याख्यानसे यह जीव अनेक सैकड़ों भवों—जन्मोंका निरोध करता है।

[१०]

१—सामाइएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयई। उत्त० २९ : ८

सामायिकसे हे भगवन्? जीव क्या उत्पन्न करता है?

सामायिकसे जीव सावद्य योगसे विरति—निवृत्तिको उपार्जन करता है।

२—चउव्वीसत्थएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ। उत्त० २९ : ९

चतुर्विशतिस्तवसे यह जीव क्या फल उपार्जन करता है?

इससे जीव दर्शनकी—सम्यक्त्वकी—शुद्धिको प्राप्त करता है।

३—वंदणएणं भन्ते। जीवे किं जणयइ? वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ। उत्त० २९ : १०

वन्दनसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है?

इससे नीचगोत्र कर्मका क्षय करता है, उच्च गोत्रकर्मका बंध करता है। अप्रतिहत सौभाग्य और आज्ञाफलको प्राप्त करता है तथा दक्षिण भावको उपार्जन करता हैं।

४—पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ। उत्त० २९ : ११

प्रतिक्रमणसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

इससे जीव व्रतोंके छिद्रोंको रोकता है, जिससे फिर जीव निरुद्धास्रव हो, शुद्ध चारित्र और आठ प्रवचन माताओंमें सदा उपयोगवान समाधिपूर्वक संयम मार्गमें विचरता है।

५—काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ। उत्त० २९ : १२

कायोत्सर्गसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

कायोत्सर्गसे अतीत वर्तमानके अतिचारोंकी विशुद्धि करता है। प्रायश्चितसे विशुद्ध जीव उसी तरह निवृत हृदयवाला हो जाता है जिस तरह भार हटा देनेसे भारवाहक। इस तरह हल्के भारवाला वह प्रशस्त ध्यानको प्राप्त कर सुख पूर्वक विचरता है।

६—पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ। (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छा निरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ)। उत्त० २९ : १३

प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

प्रत्याख्यानसे जीव आस्रव द्वारका निरोध करता है। (इच्छाका निरोध करता है। ऐसा जीव फिर सर्व द्रव्य—पदार्थोंसे वितृष्ण हो—

२० : विकीर्ण सुभाषित

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥

उत्त० ६ : २६

जो मार्गमें घर करता है, निश्चय ही वह संशयग्रस्त कार्य करता है। जहां पर जाना हो वहीं शाश्वत् घर करनेकी इच्छा करनी चाहिए।

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पजुञ्जई।
अकारिणोऽत्थबज्झन्ति, मुच्चई कारओ जणो ॥

उत्त० ६ : ३०

मनुष्योंके द्वारा अनेक बार मिथ्यादण्ड दिया जाता है। इस जगत् में न करनेवाले बान्धे जाते हैं और करनेवाले छुट जाते—निकल जाते हैं।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई ॥

उत्त० १ : ४२

जो व्यवहार धर्मसे उत्पन्न है और ज्ञानी पुरुषोंने जिसका सदा आचरण किया है, उस व्यवहारका आचरण करनेवाला पुरुष कभी निंदाको प्राप्त नहीं होता।

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दास पोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि ॥

उत्त० ६ : ५

गाय, घोड़े, मणिकुण्डल, पशु, दास और अन्य पुरुष इन सबको छोड़ कर तू परलोकमें कामरूप देवता होगा।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥

उत्त० १ : १६

दूसरे लोग वध और बंधनादिसे मेरा दमन करें—ऐसा न हो। दूसरोंके द्वारा दमन किया जाऊँ उसकी अपेक्षा संयम और तप द्वारा मैं ही अपनी आत्माका दमन करूँ—यह अच्छा है।

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहूजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥

उत्त० २२ : १६

यदि मेरे कारणसे ये सब बहुतसे जीव मारे जायंगे तो मेरे लिए परलोकमें यह निश्रेयसके लिए नहीं होगा।

दवग्गिणा जहारण्णे, डज्झमाणेसु जन्तुसु।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति, रागद्दोसवसं गया ॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं न बुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं ॥

उत्त० १४ : ४२, ४३

दावाग्नि द्वारा अरण्यमें जन्तुओंको जलते देखकर जैसे दूर स्थित अन्य जीव राग द्वेषके अधीन हुए आनन्द मानते हैं, ऐसे ही हम मूर्ख कामभोगमें मूर्छित जीव, जन्म-मरणकी अग्निसे धधकते इस जगत्‌को

देख कर भी राग-द्वेषवश बोध नहीं पाते !

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
मायागईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥

उत्त० ९ : ५४ ॥

क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है, मानसे अधोगति पाता है, माया से सद्‌गतिका रास्ता रुकता है और लोभसे इहभव और परभव दोनों बिगड़ते हैं ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥

द० ८ : ३८

क्रोध पारस्परिक प्रीतिका नाश करता है, मानसे विनय दूर होता है, माया मित्रताका नाश करती है और लोभ सभी गुणोंको हरता है ।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

द० ८ : ४०

अनियंत्रित क्रोध और मान तथा बढ़ी हुई माया और लोभ—ये चारों मलीन कषायें भव-भ्रमण रूपी पौधेकी जड़ोंको सींचनेवाली हैं (उसे कभी सूखा नहीं होने देतीं अर्थात् पुनः पुनः जन्म-मरण का कारण हैं) ।

कोहं माणं निगिण्हित्ता, मायं लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसेकाउं, अप्पाणं उवसंहरे ॥

उत्त० २२ : ४८

क्रोध, मान, माया और लोभको सर्व प्रकारसे निग्रह कर तथा इन्द्रियोंको वशमें कर आत्माको स्थिर करो।

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥

उ० ९ । ३६ ॥

पांचों इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और दुर्जय आत्मा—ये दस शत्रु हैं। एक आत्माको जीत लेनेसे सब जीत लिए जाते हैं।

सोही उज्जुअभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए॥

उत्त० ३ : १२

ऋजु—सरल आत्माकी ही शुद्धि होती है। धर्म शुद्ध आत्मामें ही ठहरता है। जिस तरह घी से सींची हुई निर्धूम अग्नि दिव्य प्रकाशको प्राप्त होती है उसी तरह शुद्ध आत्मा परम निर्वाणको प्राप्त करती है।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥

उत्त० ३१ : १

मुमुक्षु एक बातसे विरति करे और एक बातमें प्रवृत्ति। असंयमसे—हिंसादिकसे—निवृत्ति करे और संयममें—अहिंसादिमें—प्रवृत्ति।

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्मारियं॥

उत्त० १८ : २५

जो नर पापी होते हैं वे घोर नरकमें पड़ते हैं और जो आर्य (सत्य) धर्मका पालन करते हैं, वे मनुष्य दिव्य गतिमें जाते हैं।

किरिअं रोअए धीरो, अकिरिअं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठीसम्पन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं॥

उत्त० १८ : ३३

धीर पुरुष क्रियामें रुचि करे और अक्रियाको छोड़ दे तथा सम्यक् दृष्टिसे दृष्टि-सम्पन्न होकर दुष्कर धर्मका आचरण करे।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए॥

उत्त० ३५ : ३

इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन, भोगलिप्सा और लोभ का संयमी पुरुष त्याग करे।

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥

द० ८ : २८

सूर्यके अस्त होनेसे प्रातः काल सूर्यके उदय न होने तक सर्व प्रकारके आहारादि—खान-पानकी मुमुक्षु मनसे भी इच्छा न करे।

अच्चणं रयणं चेव, वन्दणं पूअणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसाऽवि न पत्थए॥

उत्त० ३५ : १८

अर्चा, सत्कार, वन्दन, पूजन, ऋद्धि, सत्कार, सन्मान—इन सबकी मुमुक्षु मनसे भी इच्छा न करे।

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए॥

उत्त० ३० : ३५

आर्त और रौद्र इन दो ध्यानोंका वर्जन कर सुसमाहित मुमुक्षु धर्म

और शुक्ल ध्यानका चिंतन करे। ज्ञानियोंने इसे ही ध्यान-तप कहा है।

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ६ : १७

जुआ खेलना न सीखे, जो बात धर्मसे विरुद्ध है वह न बोले, हस्त कर्म और विवाद न करे। इन बातोंको पापका हेतु जानकर विद्वान् इनका त्याग करे।

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा॥

दस० ६। २ : ३

जो मनुष्य पशुके समान चण्ड—क्रोधी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त होता है, वह दुःशील पुरुष संसार-प्रवाहमें उसी प्रकार बह जाता है जिस प्रकार काठका टकड़ा समुद्रके श्रोत में।

निद्दं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहोकहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया॥

द० ८ : ४२

मुमुक्षु निद्राका विशेष आदर न करे, हँसी मजाकका वर्जन करे, गुप्त बात या स्त्रीकी कथामें आनन्द न ले पर सदा स्वाध्यायमें रत रहे।

तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुतप्पई।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियण्ठिया॥

सू० १, ६ : २६

भाषा चार प्रकारकी है, उनमें झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है। विवेकी पुरुष ऐसी मिश्र भाषा न बोले। न वैसी भाषा बोले जिससे

बादमें पश्चाताप करना पड़े। न प्रच्छन्न बात कहे। यही निर्ग्रन्थ ऋषियोंकी आज्ञा है।

जसं किर्त्ति सिलोगं च, जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ६ : २२

यश, कीर्ति, श्लाघा, आदर, वंदन, पूजन तथा इस लोकमें जो भी विषय इच्छा है उन्हें विज्ञ पुरुष पापके कारण जानकर छोड़े।

इहमेगे उ भासन्ति, सायं साएण विज्जई।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं॥

कई ऐसा कहते हैं कि सुखसे ही सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु वे मूर्ख हैं। जो परम समाधिको प्राप्त करानेवाले ज्ञान-दर्शन-रूप आर्य मार्गको छोड़ते हैं, वे सदा संसारमें भ्रमण करते हैं।

मा एयं अवमन्नन्ता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं।
एयस्स उ अमोक्खाए, अयोहारि व्व जूरह॥

सू० १, ३ । ४ : ६, ७

इस परम मार्गको तिरस्कार करके तुच्छ विषय सुखके लोभसे अति मूल्यवान् मोक्ष सुखको मत बिगाड़ो। "सुखसे सुख होता है"— इस असत्पक्षको नहीं छोड़ने पर लोहेके बदलेमें सोनेको न लेनेवाले वणिक्की तरह पश्चाताप करोगे।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमियमप्पणो॥

द० ८ : ३४

मुमुक्षु, इस जीवनको अध्रुव जान तथा सिद्धिमार्ग—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष-मार्गको कल्याणकारी समझ, भोगोंसे निवृत्त

हो जाय। मनुष्यकी आयु बड़ी ही परिमित है।

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए॥

द० ८ : ३५

अपने बल और दृढ़ता, श्रद्धा और आरोग्यको देख कर तथा क्षेत्र और कालको जान कर उसके अनुसार आत्माको तपश्चर्यादिमें लगावे।

गारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहि संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वए, देवाणं गच्छे सलोगयं॥

सू० १, २ । ३ : १३

गृहमें निवास करता हुआ भी जो मनुष्य, प्राणियोंके प्रति यथाशक्य संयमी और समभाव रखनेवाला होता है—वह सुव्रती देवताओंके लोकमें जाता है।

कंदप्पमाभिओगं च, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति॥

उ० ३६ : २५७

कन्दर्प भावना, आभियोगी भावना, किल्विषी भावना, मोह भावना और आसुरी भावना—ये दुर्गति रूप है। मरणके समय इन भावनाओं से जीव विराधक होते हैं।

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहिं।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६४॥

कन्दर्प[1], कौत्कुच्य[2], शील[3], स्वभाव, हास्य, और विकथाओं[4] से अन्य आत्माओंको विस्मय उत्पन्न करनेवाला कन्दर्पी भावनाका भानेवाला होता है।

मंता जोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजंति।
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६५

जो साता, रस और ऋद्धिके लिए मंत्र और भूतिकर्म[5] का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावनाका भानेवाला है।

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६६

ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधुओंका अवर्णवाद बोलनेवाला—निंदा करनेवाला मायावी मनुष्य किल्विषी भावनाकी भावना करता है।

अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी।
एएहिं कारणेहिं, आसुरीयं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६७

१—कन्दर्प—काम-कथा

२—कौत्कुच्य—भावभङ्गी और वाक् विन्यासके द्वारा हँसी उत्पन्न करना

३—शील—निरर्थक चेष्टा

४—विकथा—स्त्री, खानपान, देश आदिके विषयमें सारहीन वार्तालाप

५—मंत्रित किए हुए भस्म आदिका प्रयोग

निरन्तर रोषका प्रसार करनेवाला तथा निमित्तका सेवन करने वाला[1]—इन कारणोंसे आसुरी-भावनाको भाता है ।

सत्थगहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य ।
अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥

उ० ३६ : २६८

शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण, अग्निमें झंपपात, जल-प्रवेश, अनाचार—भ्रष्टता तथा मजाकके द्वारा जो जीव मृत्युको प्राप्त करते हैं वे जन्म मरणकी वृद्धि करते हैं ।

१—ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि निमित्तों द्वारा शुभाशुभका कथन करनेवाला ।

२१ : भावना

भावना और शुद्धि

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए।
सया सच्चेण सम्पन्ने, मेत्तिं भूएहिं कप्पए॥

सू० १, १५ : ३

वीराग पुरुषने जो-जो भाव कहे हैं वे सब वास्तवमें यथार्थ हैं। जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावोंसे ओतप्रोत—उनमें स्थिर होती है, वह सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव रखता है।

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवियभावणा॥

सू० १, १५ : ४

किसी भी प्राणीके प्रति वैर-विरोध—द्वेष नहीं करना—यही संयमी पुरुषका धर्म है। संयमी पुरुष जगत्‌के स्वरूपको अच्छी तरह समझ कर वास्तविक भावों—एकान्त निश्चित सत्यों—पर जीवनको चलाता है।

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥

सू० १, १५ : ६

जिस तरह नौका अथाह जलको पारकर किनारे लगती है, उसी

तरह जिसकी अन्तर-आत्मा भावनारूपी योग-चिन्तन से विशुद्ध—निर्मल होती है, वह संसार समुद्रको तिरकर—सर्व दुःखोंको पारकर—परम सुखको पाता है।

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए।
अन्तेण खुरो वहई, चक्कं अन्तेण लोट्टई॥
अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह।

सू० १, १५ : १४, १५

जो विषय वासनाओंका अन्त करता है, वह पुरुष दुंनियाके लिए चक्षुरूप है। क्षुर (उस्तुरा) अपने अन्त—धार पर चलता है, और चक्का—पहिया भी अपने अन्त—किनारों पर ही चलता है। धीर पुरुष भी अन्तका सेवन करते हैं—एकान्त निश्चित सत्योंपर जीवनको स्थिर करते हैं और इसीसे वे संसारका—बार-बार जन्म-मरणका—अन्त करते हैं।

१ : दुर्लभ बोधि भावना

१—संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

सू० १, २ । १ : १

समझो ! तुम समझते क्यों नहीं ? मनुष्य भव बीत जाने पर सत्बोध—ज्ञान प्राप्त होना निश्चय ही दुर्लभ है। बीती हुई रातें नहीं फिरतीं और न मनुष्य-जीवन बार-बार सुलभ होता है।

२—संबुज्झा जंतवो ! माणुसत्तं, दट्ठु भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ॥

सू० १, ७ : ११

हे जीवो! समझो! मनुष्य भव दुर्लभ है। नरक तिर्यञ्च गतियोंमें केवल भय है। विवेकहीन जीवोंको शीघ्र बोध नहीं होता। यह संसार ज्वराक्रान्तकी तरह एकांत दुःखी है। सुखकी कामना करता हुआ जीव अपने किए हुए कर्मोंसे ही दुःख पाता है।

३—निट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु नो तहा॥

सू० १, १५ : १६

लोकोत्तर धर्मकी आराधना करनेवाला या तो पंचम गति—मोक्ष को पाता है या देवगति को। मैंने सुना है कि मनुष्येतर जन्ममें ऐसा होना सम्भव नहीं।

४—अन्तं करन्ति दुक्खाणं, इहमेगेसिमाहियं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेयं समुस्सए॥

सू० १, १५ : १७

कई कहते हैं कि देव ही दुःखोंका अन्त कर सकते हैं परन्तु ज्ञानियों ने बार-बार कहा है कि यह मनुष्य भव दुर्लभ है। जो प्राणी मनुष्य नहीं वे अपने समस्त दुःखोंका नाश नहीं कर सकते।

५—इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे॥

सू० १, १५ : १८

एक वार मनुष्य भव ध्वंस हुआ कि फिर उसका पाना सरल नहीं होता। उसके विना सत्बोध पाना दुर्लभ होता है और ऐसी चितवृति भी दुर्लभ होती है जिससे धर्मकी आराधना हो सके।

६—अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा॥

सू० १, १५ : १५

धीर पुरुष अन्तका सेवन करते हैं—जीवन-धुराको वास्तविक तत्वोंके छोर पर चलाते हैं और ऐसा कर ही वे संसारसे पारगामी होते हैं। इस मनुष्य लोकमें धर्मकी आराधनाके लिए ही हम मनुष्य हुए हैं।

२ : अशरण भावना

१—जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति॥

उत्त० १३ : २२

निश्चय ही अन्तकालमें मृत्यु मनुष्यको वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, जैसे सिंह मृग को। अन्तकालके समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार नहीं होते।

२—वित्तं पसवो य नाइयो, तं बाले सरणं ति मन्नई।
एए मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई॥

सू० १, २ । ३ : १६

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालोंको अपनी शरण—आश्रय-स्थान मानता है और समझता है—'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूं'। परन्तु उनमेंसे कोई भी आपत्तिकालमें त्राण तथा शरण देनेवाला नहीं।

३—अब्भागमियम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवन्तिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमन्ता सरणं न मन्नई॥

सू० १, २ । ३ : १७

दुःख आ पड़ने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। आयुष्य

क्षीण होने पर जीव अकेला ही गति आगति करता है। विवेकी पुरुष, धन, पशु, सगे, सम्बन्धियोंको जरा भी शरण रूप नहीं समझता।

४—माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥

उत्त० ६ : ३

विवेकी पुरुष सोचे—'माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, भार्या तथा औरसपुत्र—ये कोई भी अपने कर्मोंसे दुःख पाते हुए मुझकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हे।'

५—सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव॥

उत्त० १४ : ३९

यदि सारा जगत् और यह सारा धन भी तुम्हारा हो जाय, तो भी वे सब अपर्याप्त ही होंगे और न ये सब तुम्हारा रक्षण करनेमें ही समर्थ होंगे।

६—चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए॥

सू० १, ९ : ७

विवेकी मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह तथा अन्तर शोकको छोड़ निरपेक्ष हो संयमका अनुष्ठान करे।

७—मरिहिसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

उत्त० १४ : ४०

हे राजन्! यदा कदा इन मनोरम कामभोगोंको छोड़ कर तुम्हें चल बसना है। इस ससारमें धर्म ही त्राण है। धर्मके सिवा अन्य वस्तु नहीं जो दुर्गतिसे रक्षा कर सके।

३ : संसार भावना

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥

उत्त० १९ : १६

यहां जन्मका दु:ख है, जराका दु:ख है, रोगोंका दु:ख है, मरणका दु:ख है; इस तरह इस संसारमें दु:ख ही दु:ख है, जहां बेचारे प्राणी नाना प्रकारके क्लेश पाते हैं।

सारीरमाणसा चेव, वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥

उत्त० १९ : ४६

इस आत्माने अनन्त वार तीव्र शारीरिक और मानसिक वेदनाएं भोगी हैं और अनन्त दु:ख और भयसे वह पीड़ित हुई है।

जरामरणकन्तारे, चाउरन्ते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि, जम्माणि मरणाणि य ॥

उत्त० १९ : ४७

इस जन्म-मरणरूपी कांतार और चार गतिरूप भयके धाममें मैंने अनन्तवार तीव्र दु:खपूर्ण जन्म और मरण किए हैं।

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥

उत्त० १९ : ७२

अत्यन्त भय, त्रास, दु:ख और व्यथाका अनुभव करते हुए मैंने नित्य घोर दु:खदायी वेदनाएं वेदी हैं—भोगी हैं।

जारिसा माणुसे लोए, ताया दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणन्तगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा॥
उत्त० १९ : ७४

मनुष्य लोकमें जैसी वेदनाएं दिखाई देती हैं, उनसे अनन्त गुणी दुःखदायी वेदनाएं नरकमें हैं।

सव्व भवेसु असाया, वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तं पि, जं साया नत्थि वेयणा॥
उत्त० १९ : ७५

सब भवोंमें मैंने असाता वेदना—दुःख ही दुःख भोगे। सुखकी तो निमेष भी नहीं, केवल वेदना ही है।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! विजाणह॥
अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे॥
उत्त० १४ : २२ : २३

हे पिताजी! यह लोक मृत्युसे पीड़ित है, जरासे घिरा हुआ है, जाते हुए रात-दिन अमोघ शस्त्र हैं। इस पीड़ित, सर्व ओरसे घिरे हुए तथा अमोघ शस्त्रोंकी घातसे संत्रस्त लोकमें—घरमें हम जरा भी आनन्द नहीं पाते।

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ॥
उत्त० १९ : २३ २४

जैसे घरमें आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओंको निकालता है और असारको छोड़ देता है उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्निसे जलते हुए इस संसारमें अपनी आत्माका उद्धार करूंगा।

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स गई, तत्थ न विज्जई॥

उत्त० २३ : ६६

उदधिके बीच एक विस्तृत महाद्वीप है, जहां पर महान् उदक—समुद्रके प्रवाहकी पहुंच नहीं होती।

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥

उत्त० २३ : ६८

जरा और मरणरूपी जलके वेगसे बहते हुए प्राणियोंके लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठान, गति और उत्तम शरण है।

४ : अनित्य भावना

१—अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी॥

उत्त० १३ : ३१

काल बीता जा रहा है। रात्रियां भागी जा रही है। ये मनुष्योंके कामभोग नित्य नहीं हैं। जैसे पक्षी क्षीणफलवाले द्रुमको छोड़कर चले जाते हैं उसी तरह कामभोग क्षीणभागी पुरुषको छोड़ देते हैं।

२—हत्था मे पाया मे बाहा मे ऊरू मे उयरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाइज्जइ, वयाउ पडिजूरइ। तंजहा—आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ। सुसंधिओ संधी विसंधीभवइ, वलियतरंगे गाए भवई, केसा किण्हा पलिया भवंति। तं जहा—जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ। सू० २, १ : १३

ये मेरे हाथ हैं, ये मेरे पैर हैं, ये मेरी भुजाएँ हैं, यह मेरी जांघे हैं, यह मेरा पेट है, यह मेरा सिर है, यह मेरा शील है, यह मेरी आयु है, यह मेरा बल है, यह मेरा वर्ण है, यह मेरी त्वचा है, यह मेरी कान्ति है, यह मेरे कान हैं, यह मेरे नेत्र हैं, यह मेरी नासिका है, यह मेरी जीभ है, यह मेरा स्पर्श है। इस प्रकार प्राणी इनमें ममता करता है। परन्तु वय आने पर ये सब जीर्ण हो जाते हैं; मनुष्य—आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान, तथा स्पर्श पर्यन्त सभी इन्द्रियोंसे हीन हो जाता है। उसकी दृढ़ सन्धियां ढीली हो जाती हैं, शरीरमें सर्वत्र चमड़ा संकुचित होकर तरंगकी रेखाके समान हो जाता है, काले केश सफेद हो जाते हैं। यह जो आहारसे वृद्धि प्राप्त उत्तम शरीर है, इसे भी क्रमशः अवधि पूरी होने पर छोड़ देना पड़ेगा।

३—गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा,
नरा परे पञ्चसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा॥

सू० १, ७ : १०

कई जीव गर्भावस्थामें ही मर जाते हैं, कई स्पष्ट बोलनेकी

अवस्थामें तथा कई बोलनेकी अवस्था आनेके पहले ही चल बसते हैं। कई कुमार अवस्थामें, कई युवा होकर, कई आधी उमरके होकर, और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं। मृत्यु हर अवस्थामें आ घेरती है।

४—डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयन्ति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टई॥
सू० १।२।१:२

देखो! युवक और बूढ़े यहां तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते हैं। जैसे बाज पक्षीको हर लेता है वैसे ही आयु शेष होने पर काल जीवनको हर लेता है।

५—ठाणी विविह ठाणाणि, चइस्संति न संसओ।
अणियए अयं वासे, नायएहि सुहीहि य॥
एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं॥
सू० १।८:१२, १३

विविध स्थानोंमें स्थित प्राणी एक-न-एक दिन अपने स्थानको छोड़ कर जानेवाले हैं—इसमें जरा भी संशय नहीं है। ज्ञाति और मित्रोंके साथ यह संवास भी अनित्य है। उपरोक्त सत्यको जानकर विवेकी पुरुष अपनी आसक्तिको हटा दे और सर्व शुभ धर्मोंसे युक्त मोक्ष ले जानेवाले आर्य धर्मको ग्रहण करे।

६—उवणिज्जई जीवियमप्पमायं, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।
पञ्चालराया! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माइं महालयाइं॥
उत्त० १३:२६

आयुष्य निरन्तर क्षय होता जा रहा है; जरा मनुष्यके वर्ण—रूप

—सुन्दरताको हर रही है। हे पंचाल राजन्! मेरी बात सुनो! पाप कर्मोंको मत करो।

७—जया सव्वं परिच्चज्ज, गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि॥

उत्त० १८ : १२

हे राजन्! सब चीजोंको छोड़कर तुम्हें एक दिन परवशतासे अवश्य जाना है फिर इस अनित्य लोकमें इस राज्य पर तुम्हें आसक्ति क्यों है?

८—जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचञ्चलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं, पेच्चत्थं नाव बुज्झसि॥

उत्त० १८ : १३

जिसमें तुम मूर्छित हो रहे हो—वह जीवन और रूप विद्युत-सम्पातकी तरह चंचल है। हे राजन्! परलोकमें क्या अर्थकारी—हितकर है यह क्यों नहीं समझते?

५ : एकत्व भावना

१—से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं। इणमेव उवणीययरागं, तं जहा—माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुहा मे पिया मे सहा मे सयणसंगन्थसंथुया मे, एए खलु मम नायओ अहमवि एएसिं। एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा। इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे। से हंता भयंतारो! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ

परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहावो, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ। तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेएसिं भयन्ताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ। अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेयणा।

बुद्धिमान पुरुष सोचे कि ये कामभोग तो बहिरंग पदार्थ हैं। इनसे निकट सम्बन्धी तो अन्य हैं जैसेकि—यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरे भाई हैं, यह मेरी बहिन है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पुत्री है, यह मेरे दास हैं, यह मेरा नाती है, यह मेरी पुत्रबधू है, यह मेरा मित्र है, यह मेरे पहले और पीछेके परिचित सम्बन्धी हैं। निश्चय ही ये सब ज्ञाति मेरे हैं और मैं उनका हूं। परन्तु बुद्धिमान पुरुषको पहले अपने आप विचार लेना चाहिए कि यदि कभी मुझको किसी प्रकारका दुःख या रोग उत्पन्न हो, जो अनिष्ट और दुःखदायी है, और उस समय मैं अपने ज्ञातिवर्गसे यदि यह कहूं कि—हे भयसे रक्षा करनेवाले ज्ञातिवर्ग! मेरे इस अनिष्ट और अप्रिय दुःख तथा रोगमें आपलोग हिस्सा बँटायें, क्योंकि—मैं इस दुःखसे पीड़ित हू, शोकाकुल हूं, बहुत ताप भोग रहा हूं; आप इस अनिष्ट दुःख तथा रोगसे मुझको मुक्त करें तो वे ज्ञातिवर्ग इस प्रार्थनाको सुनकर दुःख तथा रोगको बंटा लें या मुझको दुःख और रोगसे मुक्त

कर दें ऐसा कभी नहीं होता। अथवा भयसे मेरी रक्षा करनेवाले इन ज्ञातियोंको ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाय, जो अनिष्ट और असुखकर हो, और मैं चाहूं कि भयसे रक्षा करनेवाले इन ज्ञातियोंके अनिष्ट दुःख या रोगको बँटा लूं, जिससे ये मेरे ज्ञातिवर्ग दुःख तथा परिताप न भोगें, और इनको दुःख तथा अनिष्ट रोगसे मुक्त कर दूं तो यह मेरी इच्छा कभी पूरी नहीं होती है। दूसरेके दुःखको दूसरा नहीं बँटा सकता। दूसरेके कर्मका फल दूसरा नहीं भोग सकता। मनुष्य अकेला ही मरता है, अकेला ही अपनी सम्पत्तिका त्याग करता है, अकेला ही सम्पत्तिको स्वीकार करता है, अकेला ही कषायोंको ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थोंको समझता है, अकेला ही चिंतन करता हैं, अकेला ही विद्वान होता है, और अकेला ही सुख-दुःख भोगता है।

२—तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं॥

उत्त० १८ : १७

जीव जो शुभ अथवा अशुभ—सुखरूप व दुःखरूप कर्म करता है, उन कर्मोंसे संयुक्त वह परलोकको जाता है।

३—आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहि किच्चई॥

सू० १, ६ : ४

दाह संस्कारादि अन्तिम क्रियाएँ करनेके पश्चात् विषयैषी ज्ञाति और अन्य लोग उसके धनको हर लेते हैं और पापकर्म करनेवाला एकला ही अपने किए हुए कृत्यों द्वारा संसारमें पीड़ित होता है।

४—न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

उत्त० १३ : २३

ज्ञाती-सम्बन्धी, मित्र वर्ग, पुत्र और बान्धव उसके दुःखमें भाग नहीं बंटाते। मनुष्यको स्वयं अकेलेको ही दुःख भोगना पड़ता है। कर्म, करनेवालेका ही पीछा करता है; करनेवालेको ही कर्म-फल भोगना पड़ता है।

५—चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥

उत्त० १३ : २४

द्विपद और चतुष्पद, क्षेत्र और गृह, धन और धान्य—इन सबको छोड़कर पराधीन जीव केवल अपने कर्मोंको साथ लेकर ही अकेला अच्छे या बुरे परभवमें जाता है।

६—एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगे।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥

उत्त० १९ : ७८

जैसे मृग अरण्यमें अकेला ही चर्या करता है, उसी तरह मैं चारित्र रूपी बनमें तप और संयम रूपी धर्मका पालन करता हुआ विहार करूंगा।

६ : अन्यत्व भावना

१—इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति तं जहा—खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे धणं मे धन्नं मे कंसं मे दूसं

मे विपुल धणकणगरयमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयण संतसारसावएयं मे। सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे एए खलु मे कामभोगा अहमवि एएसिं। सू० २, १ : १३

इस मनुष्य लोकमें पुरुषगण अपनेसे सर्वथा भिन्न पदार्थोंको झूठ ही अपना मानकर ऐसा अभिमान करते हैं कि खेत मेरा है, घर मेरा है, चांदी मेरी है, सोना मेरा है, धन मेरा है, धान्य मेरा है, कांसा मेरा है, लोहादि मेरे हैं, ये बहुतसे धन, सोना, रत्नमणि, मोती, शंख-शिला, मूंगा, लालरत्न, उत्तमोत्तम मणि और पैतृक धन मेरे हैं। शब्द मेरे हैं, रूप मेरे हैं, सुगंध मेरी हैं, रस मेरे हैं, स्पर्श मेरे हैं—ये कामभोग मेरे हैं और मैं इनका हूं।

२—से मेहावी पुव्वामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा, तंजहा—इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे। से हन्ता भय-न्तारो! कामभोगाइं मम अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं। ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकन्तओ अप्पियाओ असुभाओ अम-णुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ। इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो?

सू० २, १ : १३

परन्तु बुद्धिमान पुरुषको पहलेसे ही यह सोच लेना चाहिये कि जब मुझको किसी प्रकारका दुःख या रोग उत्पन्न होता है, जो इष्ट नहीं है, प्रीतिकर नहीं है, किन्तु अप्रिय है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, विशेष पीड़ा देनेवाला है, दुःख रूप है, सुख रूप नहीं है, उस समय यदि मैं यह कहूं कि—हे भयसे रक्षा करनेवाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो ! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय तथा अत्यन्त दुःखद रोगमें हिस्सा बँटावें—क्योंकि मैं इस रोगसे बहुत दुःखित हो रहा हूं, शोकमें पड़ा हूं, आत्म-निन्दा कर रहा हूं, कष्ट पा रहा हूं, बहुत वेदना पा रहा हूं—आप लोग मुझको इस अप्रिय, अनिष्ट तथा दुःखद रोग और दुःखसे मुक्त कर दें तो यह कभी नहीं होता।

वस्तुतः धनधान्य और क्षेत्र आदि मनुष्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं। कभी तो पुरुष पहले ही इन कामभोगोंको छोड़ कर चल देता है और कभी कामभोग ही पुरुषको छोड़ कर चल देते हैं।

ये कामभोग अन्य हैं और मैं अन्य हूं।

फिर हम क्यों अन्य वस्तुमें आसक्त हो रहे हैं ?

३—इह खलु नाइसंजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्विं नाइसंजोगे विप्पजहइ नाइसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु नाइसंजोगा अन्नो अहमंसि से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं नाइ संजोगेहिं मुच्छामो ?

सू० २, १ : १३

इस लोकमें ज्ञाति-संयोग दुःखसे रक्षा करनेमें और मनुष्यको शान्ति देनेमें समर्थ नहीं है। कभी मनुष्य ही पहले ज्ञातिसंयोगको छोड़ देता है, और कभी ज्ञातिसंयोग ही पुरुषको पहले छोड़ देता है। अतः

ज्ञातिसंयोग दूसरा है और मैं दूसरा हूं। तब फिर इस अपनेसे भिन्न ज्ञातिसंयोगमें हम क्यों आसक्त हों ?

४—तं एक्कगं तुच्छ सरीरगं से, चिईगयं दहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्तो वि य नायओ वा, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥

उत्त० १३ : २५

मनुष्यके चितागत अकेले तुच्छ शरीरको अग्निसे जला दिया जाता है और उसकी भार्या, पुत्र और बांधव—किसी अन्य दातारका अनुसरण करते हैं।

५—दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

उत्त० १८ : १४

स्त्री और पुत्र, मित्र और बान्धव जीवनकालमें ही पीछे-पीछे चलते हैं, मरनेके बाद वे साथ नही देते।

६—नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥

उत्त० १८ : १५

जैसे अत्यन्त दुःखी हुए पुत्र मृत पिताको घरके बाहर निकाल देते हैं, वैसे ही माता-पिता भी मरे पुत्रको बाहर निकाल देते हैं। सगे सम्बन्धियोंके विषयमें भी यही बात है। हे राजन् ! यह देख कर तू तप कर।

७ : अशुचि भावना

१—इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥

उत्त० १९ : १३

यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचिसे उत्पन्न है। यह शरीर आत्मा-रूपी पक्षीका अस्थिर वास है और दुःख तथा क्लेशका भाजन—घर—है।

२—तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया, माणुस्सएसु कामभोगेसु।
सज्जह रज्जह गिज्झह, मुज्झह अज्झोववज्जह॥
ज्ञा० अ० ८

अतः हे देवानुप्रिय ! तुम मानुषिक कामभोगोंमें आसक्त न बनो, रागी न बनो, गृद्ध न बनो, मूर्छित न बनो और अप्राप्त भोगोंको प्राप्त करनेकी लालसा मत करो।

३—असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे॥ उत्त० १६ : १४

जल्दी या देरसे इस शरीरको छोड़ना पड़ता है। यह शरीर फेनके बुद्बुद्के समान क्षणभंगुर है। इस अशाश्वत शरीरमें मैं जरा भी आनन्द नहीं पाता।

४—माणुसत्ते असारम्मि, वाहिरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं॥ उत्त० १६ : १५

यह मनुष्य शरीर असार है। व्याधि-रोगका घर है और जरा-मरणसे रात दिन ग्रसित है। इस असार मनुष्य शरीरमें मुझे एक क्षणके लिए भी आनन्द नहीं मिलता।

८ : आश्रव भावना

१—ते चक्खु लोगंसिह नायगा उ, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव संपगाढा॥
सू० १, १२ : १२

अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर आदि लोकके नेत्रके समान हैं। वे धर्म-नायक हैं। वे प्रजाओंको कल्याण-मार्गकी शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं—"हे मनुष्यो! ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व बढ़ता है, त्यों-त्यों संसार भी शाश्वत होता जाता है। संसारकी वृद्धि इसी तरह होती है जिसमें नाना प्राणी निवास करते हैं।"

२—जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥
सू० १, १२ : १३

जो राक्षस हैं, जो यमपुरवासी हैं, जो देवता है, जो गंर्धव हैं, जो आकाशगामी व पृथ्वी निवासी हैं वे सब मिथ्यात्वादि कारणोंसे ही बार-बार भिन्न-भिन्न रूपोंमें जन्म धारण करते हैं।

३—जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरन्ति ॥
सू० १, १२ : १४

जिस संसारको अपार सलिलवाले स्वयंभूरमण समुद्रकी उपमा दी गई है, वह भिन्न-भिन्न योनियोंके कारण बड़ा ही गहन और दुस्तर है। विषय और स्त्रियोंमें आसक्त जीव स्थावर और जगम दोनों जगतमें बार-बार भ्रमण करते हैं।

४—ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं।
नेयारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥
सू० १, १२: १६

उपरोक्त भावोंको जिन्होंने कहा है वे जोवोंके भूत, वर्तमान और भविष्यको जाननेवाले, जगत्के अनन्य नेता और संसारको अंत करने वाले बुद्ध—ज्ञानी—पुरुष हैं।

९ : संवर भावना

१—तिउईट्ट उ मेहावी, जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥
सू० १, १५ : ६

पाप कर्मको जाननेवाला बुद्धिमान पुरुष संसारमें रहता हुआ भी पापसे छुट जाता है। जो पुरुष नए कर्म नहीं करता उसके सभी पापकर्म छुट जाते हैं।

२—जं मयं सव्व साहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥
सू० १, १५ : २४

सर्व साधुओंको मान्य जो संयम हैं वह पापको नाश करनेवाला है। इस संयमकी आराधना कर बहुत जीव संसार सागरसे पार हुए हैं और बहुतोंने देवभवको प्राप्त किया है।

३—अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई ॥
सू० १, १५ : ७

जो नहीं करता उसके नए कर्म नहीं बंधते। कर्मोंको जाननेवाला महावीर पुरुष उनकी स्थिति और अनुभाग आदिको जानता हुआ ऐसा कार्य करता है जिससे वह संसारमें न तो कभी उत्पन्न होता और न कभी मरता है।

४—पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वावि ण कुव्वई ॥
सू० १, १५ : २२

पंडित पुरुष, कर्मोंको विदारण करनेमें समर्थ वीर्य्यको प्राप्त करके नवीन कर्म न करे और पूर्वकृत कर्मोंको धुन डाले।

५—अभविंसु पुरा धीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुन्निबोहस्स मगस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे॥

सू० १, १५ : २५

पूर्व समयमें बहुतसे धीर पुरुष हो चुके हे और भविष्यकालमें भी ऐसे सुव्रती पुरुष होंगे जो दुर्निबोध—दुष्प्राप्य—मोक्ष मार्गकी अन्तिम सीमा पर पहुँच कर तथा उसे दूसरोंको प्रकट कर इस संसार सागरसे तिरे हैं या तिरेंगे।

१० : निर्जरा भावना

१—पाणिवहमुसावाया, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो॥

उत्त० ३० : २

प्राणिवध—हिंसा, मृषावाद—झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि भोजनसे विरत जीव अनाश्रव—नए कर्म-प्रवेशसे रहित—हो जाता है।

२—पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो॥

उत्त० ३० : ३

जो जीव पांच समितियोंसे संवृत, तीन गुप्तियोंसे गुप्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकारके गर्व और तीन प्रकारके शल्यसे रहित होता है वह अनास्रव—नए कर्म-संचयसे रहित—हो जाता है।

३—जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

उत्त० ३० : ५, ६

जिस तरह जल आनेके मार्गोंको रोक देने पर बड़ा तालाब पानीके उलीचे जाने और सूर्यके तापसे क्रमशः सूख जाता है उसी तरह आस्रव—पाप-कर्मके प्रवेश-मार्गोंको रोक देनेवाले संयमी पुरुषके करोड़ों भवों—जन्मों—के संचित कर्म तपके द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।

४—सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥

उत्त० ३० : ७

यह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। बाह्य तप छः प्रकारका कहा गया है और आभ्यन्तर तप भी उतने ही प्रकारका।

५—अणसणमूणोयरिया, य भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ॥

उत्त० ३० : ८

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता—ये बाह्य तप हैं।

६—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, ऐसो अब्भिन्तरो तवो ॥

उत्त० ३० : ३०

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तपके छः भेद हैं।

७—धुणिया कुलियं व लेववं।
किसए देहमणसणा इह ॥ सू० १, २ । १ : १४

जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, इसी तरह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देहको कृश कर देना चाहिए।

८—कसेहि अप्पाणं।
जरेहि अप्पाणं॥

आ० १, ४ । ३ : ५

आत्माको कसो—दमन करो। आत्माको जीर्ण करो—पतली करो।

९—इह आणाकंखी पंडिए
अणिहे एगमप्पाणं
सपेहाए धुणे सरीरगं।

आ० १, ४ । ३ : ४

सत्पुरुषोंकी आज्ञा पालनकी चाह रखनेवाला पण्डित पुरुष, आत्माको अकेली समझ कर, अमोह भावसे शरीरको तपसे क्षीण करे।

१०—जहा जुन्नाइं कट्ठाइं
हव्ववाहो पमत्थति
एवं अत्तमाहिते अणिहे।

आ० १, ४ । ३ : ६

जिस तरह अग्नि पुराने सूखे लकड़ोंको शीघ्र जलाती है, उसी तरह आत्मनिष्ठ और स्नेहरहित जीवके कर्म शीघ्र जलते हैं।

११—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला।
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥

सू० १, १२ : १५

मूर्ख जीव कर्म (सावद्यानुष्ठान) कर कर्मोंका क्षय नहीं कर सकते। धीर पुरुष अकर्म द्वारा कर्मोंका क्षय करते हैं।

१२—सउणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥
सू० १, २-१ : १५

जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीरमें लगी हुई रजको पंख झाड़ कर दूर कर देती है, उसी तरहसे जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप कर अपने आत्म-प्रदेशोंसे कर्मको झाड़ देता है।

१३—खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥
उत्त० २८ : ३६

संयम और तपके द्वारा पूर्व कर्मोंका क्षयकर महर्षि सर्व दुःखोंसे रहित जो मोक्ष-पद है उसके लिए पराक्रम करते हैं।

१४—एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥
उत्त० ३० : ३७

जो मुनि वाह्य और आभ्यन्तर इन दो प्रकारके तपोंका सम्यक् प्रकारसे आचारण करता है, वह पण्डित पुरुष संसारसे शीघ्र मुक्त हो जाता है।

१५—तवनाराय जुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥
उत्त० ९ : २२

तप रूपी वाणसे संयुक्त हो, कर्मरूपी कवचको भेद करनेवाला मुनि, संग्रामका अंत ला, संसारसे—जन्म जन्मान्तरसे मुक्त हो जाता है।

११ : धर्म भावना

१—धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो ॥
द० १ : १

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप—यही धर्म है। जिसका मन सदा धर्ममें रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२—पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो, संजमो अ खन्ती अ बंभचेरं च ॥
द० ४ : २८

जिन्हें तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र अमरभवनको प्राप्त करते हैं, भले हो उन्होंने पिछली अवस्थामें ही संयम ग्रहण क्यों न किया हो।

३—सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ॥
उत्त० १३ : १०

मनुष्योंके सब सदाचार सफल होते हैं। किए हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलसे कोई छटकारा नहीं पा सकता। उत्तम कामभोग और सम्पत्तिके रूपमें मुझे भी अपने शुभ कर्म—पुण्योंका फल मिला है।

४—इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥
उत्त० १३ : २१

हे राजन्! यह जीवन अशाश्वत है। जो इसमें पुण्य—सत्कृत्य और धर्म नहीं करता वह मृत्युके मुखमें पड़नेके समय पश्चाताप करता है तथा परलोकमें भी दुःखित होता है।

५—अद्धाणं जो महंतं तु, अप्पाहेओ पवज्जई,
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाएपीडिओ।
एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं,
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई,
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ।
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं,
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे॥
उत्त० १९ : १९-२२

जैसे कोई लम्बी यात्राके लिए निकले और साथमें अन्न-जल (पाथेय) न ले तो आगे जाकर क्षुधा तृष्णासे पीड़ित होकर दुःखी होता है, वैसे ही जो धर्म न कर परभवको जाता है वह जाता हुआ व्याधि और रोगसे पीड़ित होनेपर दुःखी होता है। जैसे कोई लम्बी यात्राके लिए निकलता हुआ अन्न-जल आदि साथमें ले लेता है तो क्षुधा तृषासे पीड़ित नहीं होता हुआ सुखी रहता है, वैसे ही धर्म कर परभवको जाता हुआ प्राणी अल्पकर्म और अवेदनाके कारण सुखी होता है।

६—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पड़िनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पड़िनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥
उत्त० १४ : २४ : २५

जो-जो रात्रि जाती है वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वालेकी रात्रियां निष्फल जाती हैं।

जो-जो रात्रि जाती है वह लौटकर नहीं आती। धर्म करनेवाले की रात्रियां सफल जाती हैं।

७—जरा जाव न पीड़ेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥
द० अ० ८ : ३६

जरा जब तक पीड़ित नहीं करती, व्याधियां जब तक नहीं बढ़ती, इन्द्रियां जब तक हीन (शिथिल) नही होतीं तब तक धर्मका अच्छी तरह आचरण कर लेना चाहिए।

८—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च मिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाओ॥
उत्त० १४ : १५

यह मेरे पास है और यह मेरे पास नहीं है, यह मुझे करना है और यह मुझे नहीं करना—ऐसा विचार करते-करते ही काल रूपी चोर प्राणोंको हर लेता है। फिर धर्ममें यह प्रमाद क्यों ?

९—जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥
उत्त० १४ : २७

जिस मनुष्य की मृत्यु से मैत्री हो, जो उसके पंजे से भाग निकलने का सामर्थ्य रखता हो, जो नहीं मरूँगा यह निश्चय रूप से जानता हो वही कल—आगामी काल—का भरोसा कर सकता है।

१०—अज्जेव धम्मं पड़िवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं॥
उत्त० १४ : २८

हम तो आज ही धर्म अंगीकार करेंगे, जिसके स्वीकार करने से

पुनर्भव नहीं होता। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो हमने नहीं भोगा। श्रद्धा हमें राग से मुक्त करेगी।

१२ : कामभोग भावना

१—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥

उत्त० २५ : ४१

भोगसे ही कर्मोंका लेप—बन्धन—होता है। भोगीको जन्म-मरण रूपी संसारमें भ्रमण करना पड़ता है जबकि अभोगी संसारसे छुट जाता है।

२—उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए॥

उत्त० २५ : ४२, ४३

जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टीके गोलोंको फेंकने पर उनमेंसे गीला ही दीवारके चिपकता है और सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो काम लालसामें आसक्त और दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य होते हैं, उन्हीं को संसारका बन्धन होता है पर जो कामभोगोंसे विरत होते हैं, उनके ऐसा नहीं होता।

३—खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

उत्त० १४ : १३

कामभोगोंमें क्षणिक (इन्द्रिय—) सुख होता है और दीर्घकालीन आत्मिक दुःख। उनमें सुखानुभव तो अणि—नाम मात्र है और दुःखका कोई ठिकाना नहीं। संसारसे छुटकारा पानेमें ये बाधक—विघ्नकारी हैं। कामभोग अनर्थकी खान हैं।

४—जहा य किम्पागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुंज्जमाणा।
ते खुड्डुए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥
उत्त० ३२ : २०

जिस तरह किम्पाकफल खाते समय रस और वर्णमें मनोरम होनेपर भी पचनेपर जीवनका अंत करते हैं, उसी तरहसे भोगनेमें मनोहर काम-भोग विपाक कालमें—फल देनेकी अवस्थामें अधोगतिके कारण होते हैं।

५—सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं॥
उत्त० ६ : ५३

कामभोग शल्य रूप हैं। कामभोग विषरूप हैं। कामभोग जहरी नागके सदृश हैं। भोगोंकी प्रार्थना करते-करते जीव विचारे उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गतिमें चले जाते हैं।

६—सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥
उत्त० १३ : १६

सर्व गीत विलाप हैं, सर्व नृत्य विडम्बना हैं, सर्व आभूषण भार हैं और सर्व कामभोग दुःख रूप हैं।

७—कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो॥
उत्त० ३२ : १९

देवों सहित सर्वलोकमें जो सब कायिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामभोगोंकी ग्रासक्तिसे ही उत्पन्न हैं। वीतराग पुरुष ही उन सबका ग्रंत ला सकता है।

८—गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसार बड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे॥
उत्त० १४ : ४७

कामभोग संसारको बढ़ानेवाले हैं। गृद्ध पक्षीके दृष्टान्तको जान कर विवेकी पुरुष, गरुड़के समीप सर्पकी तरह, कामभोगोंसे सशंकित रहता हुग्रा डर-डर कर चले।

९—इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई॥
उत्त० ७ : २५

इस संसारमें कामभोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का ग्रात्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। मोक्ष मार्ग को सुनकर भी वह उससे पुनः पुनः भ्रष्ट हो जाता है।

१०—जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई॥ उत्त० ५ : ५

जो मनुष्य शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकार के कामभोगों में आसक्त होते हैं वे नाना पापकृत्यमें प्रवृत्त होते हैं। जब उन्हें कोई धर्मकी बात कहता है तो वे कहते हैं : "हमने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगोंका आनन्द तो आंखोंसे देखा है—प्रत्यक्ष है।"

११—हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥
उत्त० ५ : ६

"ये वर्तमान कालके कामभोग तो हाथमें आए हुए हैं। भविष्यके कामभोग कब मिलेंगे—कौन जानता है और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं ?"

१२—जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ॥
उत्त० ५ : ७

"मैं तो अनेक लोगोंके साथ रहूँगा"—मूर्ख मनुष्य इसी प्रकार धृष्टता भरी बातें कहा करते हैं। ऐसे मनुष्य कामभोगोंके अनुराग—आसक्तिसे इस लोक और परलोकमें क्लेशकी प्राप्ति करते हैं।

१३—तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई, धुत्ते व कलिणा जिए॥
उत्त० ५ : १६

कामभोगोंमें आसक्त मूर्ख मनुष्य मरणान्तके समय भयसे संत्रस्त हो आखिर एक ही दावमें हार जानेवाले जुआरीकी तरह अकाम मृत्युसे मरता है।

१४—जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहि मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं॥
सू० १, २-३ : ४

इस संसारमें जो मनुष्य सुखशील हैं—समृद्धि, रस और सुखमें गृद्ध हैं, जो कामभोगमें मूर्च्छित हैं, जो इन्द्रिय-विषयसे पराजित होकर क्लीव की तरह धृष्ट हैं वे वीतराग पुरुषोंके बताये समाधि मार्गको नहीं जानते।

१५—वाहेण जहा व विच्छए अबले होइ गवं पचोइए।
से अन्तसो अप्पथामए नाइवहे अबले विसीयइ॥
१०२, ३ : ५

१६—एवं कामेसेण विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे न कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥
सू० १, २। ३ : ६

जिस तरह वाहक द्वारा त्रास देकर हांका जाता हुआ बैल थक जाता है और मारे जाने पर भी अल्प बलके कारण आगे नहीं चलता और आखिर रास्तेमें ही कष्ट पाता है

उसी तरहसे क्षीण मनोबल वाला अविवेकी पुरुष सद्बोध पाने पर भी कामभोग रूपी कादेसे नहीं निकल सकता। आज या कल इन कामभोगोंको छोडूंगा, वह केवल यही सोचा करता है। सुख चाहने-वाला पुरुष कामभोगोंकी कामना न करे और प्राप्त हुए भोगोंको भी अप्राप्त हुआ करे—त्यागे।

१७—मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु, सोयई से थणई परिदेवई बहुं ॥
सू० १, २। ३ : ७

कहीं परभवमें दुर्गति न हो इस विचारसे आत्माको विषय संगसे दूर करो और उसे अंकुशमें रक्खो। असाधु कर्मसे तीव्र दुर्गतिमें गया हुआ जीव अत्यन्त सोच करता है, आक्रन्दन करता है और विलाप करता है।

१८—इह जीवियमेव पासंहा, तरुणे वा ससयस्स तुट्टई।
इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया ॥
सू० १, २। ३ : ८

संसारमें और पदार्थकी तो बात ही क्या, इस अपने जीवनको ही देखो। यह पल-पल क्षीण हो रहा है। कभी आयु तरुणावस्थामें ही पूरा हो जाता है और अधिक हुआ तो सौ वर्षके छोटेसे कालमें।

यहां कितना क्षणिक निवास है ! हे जीव ! समझो। कितना आश्चर्य है कि आयुष्यका भरोसा न होते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामोंमें मूच्छित रहते हैं।

१९—न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई।
पच्चुप्पन्नेण कारियं, को दट्ठूं परलोगमागए॥

सू० १, २। ३ : १०

टूटा हुआ आयु नहीं संध सकता—ऐसा सर्वज्ञोंने कहा है; तो भी मूर्ख लोग धृष्टतापूर्वक पाप करते रहते हैं और कहते हैं : "हमें तो वर्तमानसे ही मतलब है। परलोक कौन देखकर आया है ?"

२०—अदक्खुव दक्खुवाहियं, तं सद्दहसु अदक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिएण कडेण कम्मुणा॥

सू० १, २। ३ : ११

हे नहीं देखनेवाले पुरुषो ! त्रिभुवनको देखनेवाले ज्ञानी पुरुषोंके वचनों पर श्रद्धा करो। मोहनीय कर्मके उदयसे अवरुद्ध दर्शनशक्तिवाले अंध पुरुषो ! सर्वज्ञोंके वचनको ग्रहण करो।

२१—पुरिसो रम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा॥

सू० १, २। १ : १०

हे पुरुष ! पाप कर्मोंसे निवृत हो। यह मनुष्य जीवन शीघ्रतासे दौड़ा जा रहा है। जो लाभ लेना हो वह लो ले। भोग रूपी कादेमें फंसा हुआ और कामभोगोंमें मूच्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेकको खोकर मोह ग्रस्त होता है।

२२ : आत्मा

१—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥

उत्त० २० : ३६

यह आत्मा ही वेतरणी नदी है, और यही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही इच्छानुसार दूध देनेवाली—कामदुहा धेनु है और यही नंदन बन है।

२—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

उत्त० २० : ३७

आत्मा ही सुख और दुःखको उत्पन्न करने और न करनेवाली है। आत्मा ही सदाचारसे मित्र और दुराचारसे अमित्र—शत्रु है।

३—से सुयं च मे अज्झत्थं च मे।
बन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव॥

आ० ५।२ : १५०

मैंने सुना है और मुझे अनुभव भी है कि बंधनसे मुक्त होना तुम्हारे ही हाथमें है।

४—इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ
जुद्धारिहं खलु दुल्लभं।

आ० ५।३ : १५३

हे प्राणी ! अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करनेसे क्या मतलब ? दुष्ट आत्माके समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है।

५—पुरिसा ! तुमसेव तुमं—मित्तं, किं बहिया
मित्तमिच्छसी ? पुरिसा ! अत्ताणमेव
अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि।

आ० ३ । ३ : ११७-८

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यों मित्रकी खोज करता है ? हे पुरुष अपनी आत्माको ही वशमें कर। ऐसा करनेसे तू सर्व दुखोंसे मुक्त होगा।

२३ : अहिंसा

१—तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

द० ६ : ९

महावीरने १८ गुण-स्थानोंमें प्रथम स्थानमें अहिंसाका उपदेश दिया है। अहिंसाको भगवानने जीवोंके लिए कल्याणकारी देखा है। सर्व जीवोंके प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार ही उत्तम अहिंसा है।

२—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावगं॥

द० ४ : १०

सर्व संयमियोंके लिए एक ही बात है—'पहले जीवोंका ज्ञान और फिर दया।' अज्ञानी बेचारा क्या कर सकता है? वह क्या जाने—क्या श्रेय है और क्या पाप।

३—जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं॥

द० ४ : १२

जिसे जीवोंका विवेक—ज्ञान नहीं, उसे अजीवोंका विवेक—ज्ञान भी नहीं हो सकता। और अगर जीव-अजीवका विवेक न हो तो अहिंसा-रूपी संयमको कोई कैसे जान सकता है?

४—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥

सू० १, ११ : ७

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु और (५) घास-वृक्ष-धान आदि वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हरेकमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वके धारक अलग-अलग जीव हैं।

५—अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई॥

सू० १, ११ : ८

उपरोक्त स्थावर जीवोंके उपरान्त त्रस प्राणी हैं, जिनमें चलने-फिरनेका सामर्थ्य होता है। ये ही जीवोंके ६ वर्ग हैं। इनके सिवा दुनियांमें और जीव नहीं हैं।

६—जे केइ तसा पाणा, चिट्ठन्ति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तसथावरा॥

सू० १, १। ४ : ८

जगत्में कई जीव त्रस हैं और कई जीव स्थावर। एक पर्यायमें होना या दूसरीमें होना कर्मोंकी विचित्रता है। अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं।

७—उरालं जगओ जोगं, विवज्जासं पलेन्ति य।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया॥

सू० १, १। ४ : ९

एक ही जीव, जो एक जन्ममें त्रस होता है, दूसरे जन्ममें स्थावर हो सकता है। त्रस हो या स्थावर—सब जीवोंको दुःख अप्रिय होता है। यह समझकर मुमुक्षु सब जीवोंके प्रति अहिंसा-भाव रखे।

८—तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए॥

द० ८ : ३

मन, वचन और काया इनमेंसे किसी एकके द्वारा भी किसी प्रकार के जीवोंकी हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवनका निरन्तर धारण ही अहिंसा है।

९—एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥

सू० १, १।४ : १० ; ११ : १०

'किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए'—यही ज्ञानियोंके ज्ञान—वचनोंका सार है। अहिंसा—समता—सर्व जीवोंके प्रति आत्मवत् भाव—इसे ही शाश्वत् धर्म समझो।

१०—उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरइं विज्जा, सन्ति निव्वाणमाहियं॥

सू० १, ११ : ११

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों लोकमें जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं उन सबके प्राणातिपातसे विरत होना चाहिए। सब जीवोंके प्रति वैरकी शांतिको ही निर्वाण कहा है।

११—जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥

सू० १, ११ : ३६

जो तीर्थंकर हो चुके हैं और जो तीर्थंकर होनेवाले हैं—उन सबका प्रतिष्ठास्थान शान्ति—सब जीवोंके प्रति दयारूप भाव—ही है, जिस तरह कि सब जीवोंका आधार पृथ्वी है।

१२—पभू दोसे निराकिच्चा, न विरुज्झेज्ज केण वि।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो ॥
सू० १, ११ : १२

इन्द्रियोंको जीतनेवाला समर्थ पुरुष किसी भी प्राणीके साथ जावज्जीवन पर्यंत मन, वचन और कायासे वैर विरोध न करे।

१३—विरए गामधम्मेहिं, जे केइ जगई जगा।
तेसिं अवुत्तमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥
सू० १, ११ : ३३

शब्दादि इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीन पुरुष, इस जगत्में जो भी त्रस और स्थावर जीव है, उनको आत्मतुल्य देख उनका बचाव करता हुआ बलवीर्यको प्रकट कर संयमका पालन करें।

१४—एएसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टई कम्मसु पावएसु।
अइवायओ कीरइ पावकम्मं, निउज्जमाणे उ करेइ कम्मं ॥
सू० १, १० : ५

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवोंके प्रति दुर्व्यवहार करता हुआ पाप कर्म संचय कर बहुत दुःख पाता है। जो जीवोंकी घात करता है वह और जो जीवोंकी घात कराता है वह—दोनों ही पाप-कर्मका उपार्जन करते है।

१५—सयं तिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए।
हणन्तं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥
सू० १, १ । १ : ३

जो स्वयं जीवोंकी हिंसा करता है, दूसरोंसे करवाता है या जो जीव-हिंसाका अनुमोदन करता है वह (प्रति-हिंसाको जगाता हुआ) वैरकी वृद्धि करता है।

१६—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघित्तव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि,
अंजू चेय पडिबुद्धजीवी तम्हा न हंता न वि
घायए अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभि पत्थए।

आ० १, ५। ५ : ५

हे पुरुष ! जिसे तू मारनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख दुःखका अनुभव करनेवाला प्राणी है; जिस पर हुकूमत करनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे दुःख देनेका विचार करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे अपने वशमें रखनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेनेकी इच्छा करता है—विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है और न किसीको मारता है और न किसीकी घात करता है।

जो हिंसा करता है, उसका फल वैसा ही पीछा भोगना पड़ता है, अतः वह किसी भी प्राणीकी हिंसा करनेकी कामना न करे।

१७—पुव्वं निकायसमयं पत्तेयं, पुच्छिस्सामि
हं भो! पवाइया किं भे सायं दुक्खं असायं?
समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया—
सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं
सव्वेसिं सत्ताणं, असायं अपरिनिव्वाणंमहब्भयं दुक्खं।

आ० १, ४। २ : ६

प्रत्येक दर्शनको पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, 'हे वादियो ! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय ?' यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियोंको, सर्व भूतोंको, सर्व जीवोंको और सर्व सत्त्वोंको दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्ति कर है।

१८—सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीवणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं

आ० १, २ । ३ : ७

सभी प्राणियोंको अपनी-अपनी आयु प्रिय है। सुख अनुकूल है। दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है। जीना सबको प्रिय है। सब जीव लम्बे जीवनकी कामना करते हैं। सभीको जीवन प्रिय लगता है।

१६—नाइ वाएज्ज कंचणं।

यह सब समझ कर किसी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

न य वित्तासए परं। उत्त० २ : २०

किसी जीवको त्रास नहीं पहुंचाना चाहिए।

न विरुज्भेज्ज केणई। सू० १, १५ : १३

किसीके प्रति वैर और विरोधभाव नहीं रखना चाहिए।

मेत्तिं भूएसु कप्पए॥ उत्त० ६ : २

सब जीवोंके प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए।

२०—पुढवीकाए जाव तसकाए।

मम अस्सायं दण्डेव वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिपाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स

वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दण्डेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति। एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा न परिघेयव्वा न परितावेयव्वा न उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे धुवे नीइए सासए।

सू० २, १ : १५

पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये ६: जीव निकाय हैं।

'जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदिसे मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण हरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्युसे लगाकर रोम उखाड़ने तकसे मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्वोंको होता है'—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत जीव व सत्वको नहीं मारना चाहिए, उसपर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उसे परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए।

यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

२१—पाणे य नाइवाइज्जा, से समीए त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ॥

उत्त० ८ : ६

जो जीवोंकी हिंसा नहीं करता और उनका त्रायी होता है वह 'समित'—सब तरहसे सावधान—कहलाता है। उच्च स्थानसे जैसे

पानी निकल जाता है, वैसे ही अहिंसासे निरन्तर भावित प्राणीके कर्म समूह दूर हो जाते हैं।

२१—जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव॥

उत्त० ८ : १०

संसाराश्रित जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी तरहसे दण्डका प्रयोग न करे।

२३—अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि॥

उत्त० १८ : ११

हे पार्थिव ! तुझे अभय है। जैसे तुम अभयकी कामना करते हो, वैसे ही तुम भी अभय दाता बनो। इस अनित्य जीव-लोकमें तुम हिंसामें क्यों आसक्त हो ?

२४—सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसण्णो, संपूयणं चेव सिलोयकामी॥

उत्त० १८ : ११

हे पार्थिव ! तुझे अभय है।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए॥

सू० १, १०:७

सू० १, १२:१८

मुमुक्षु सर्व जगत् अर्थात् सर्व जीवोंको समभावसे देखे। वह किसीको प्रिय और किसीको अप्रिय न करे। छोटे और बड़े सब प्राणियोंको—सारे जगत्के चराचर प्राणियोंको—आत्माके समान देखे।

२५—अणेलिसस्स खेयन्ने, न विरुज्झेज्ज केणइ।
सया सच्चेण संपन्ने, मेत्तिं भूएहि कप्पए॥

सू० १, १५ : १३

सू० १, १५ : ३

संयममें निपुण पुरुष किसीके साथ वैर विरोध न करे। जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्यभावोंसे ओतप्रोत—उसमें स्थिर रहती है, वह सब जीवोंके प्रति मैत्री भाव रखता है।

२६—उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकम्पमाणे॥

सू० १, १४ : १४

ऊर्ध्व, अध: और तिर्यक्—तीनों दिशाओंमें जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति सदा यत्नवान रहता हुआ जीवन बितावे। संयम में अविकम्प—अडोल रहता हुआ मनसे भी द्वेष न करे।

२७—पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा।
जे अण्डया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा॥
एयाइं कायाइं पवेइयाइं, एएसु जाणे पडिलेह सायं।
एएण काएण य आयदण्डे, एएसु या विप्परियासुवेन्ति॥

सू० १, ७ : १, २

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति तथा (६) अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज—ये सब त्रस—इनको ज्ञानियोंने जीव-समूह कहा है। इन सबमें सुखकी इच्छा है, यह जानो और समझो।

जो इन जीव-कायोंका नाशकर पाप-संचय करते हैं वे बार-बार इन्हीं प्राणियोंमें जन्म धारण करते हैं।

२८—हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे॥

सू० १, ६ : ३१

कोई पीटे तो क्रोध न करे। कोई दुर्वचन कहे तो प्रज्वलित न

हो—तप्त न हो। इन सब परिषहोंको सुमनसे—समभावसे सहन करे और कोलाहल—हल्ला न मचाये।

२६—अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : १

अयत्नपूर्वक चलनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप कर्मका बंधन करता है और उसका फल कटुक होता है।

३०—अजयं चिट्ठमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : २

अयत्न पूर्वक खड़ा होनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३१—अजयं आसमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ३

अयत्नसे बैठनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३२—अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ४

अयत्नसे सोनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३३—अजयं भुञ्जमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ५

अयत्नसे भोजन करनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३४—अजयं भासमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ६

अयत्नसे बोलनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३५—जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावकम्मं न बन्धइ॥ द० ४ : ८

यत्न पूर्वक चलने, यत्न पूर्वक खड़ा होने, यत्न पूर्वक बैठने, यत्न पूर्वक सोने, यत्न पूर्वक भोजन करने और यत्नपूर्वक बोलनेवाला संयमी पुरुष पाप-कर्मोंका बंधन नहीं करता।

३६—सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासव्वस्स दन्तस्स, पावकम्मं न बन्धइ॥ द० ४ : ९

जो जगत्के सब जीवोंको आत्मवत् समझता है; जो जगत्के सब जीवोंको समभावसे देखता है, जो आस्रवका निरोध कर चुका है और जो दांत है, उसके पाप-कर्मका बंधन नहीं होता।

३७—जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवली भासियं॥ अनुयोगद्वार

जो त्रस और स्थावर—सर्व जीवोंके प्रति समभाव रखता है, उसी के सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवानने कहा है।

२४ : बोलीका विवेक

१—मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

द० ६ : १३

संसारमें सब संत पुरुषोंने झूठ बोलनेकी निन्दा की है । झूठ सभी प्राणियोंको अविश्वसनीय है—झूठसे लोगोंमें विश्वास हट जाता है, इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

२—अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥

द० ६ : १२

अपने लिए या दूसरोंके लिए, क्रोधसे या भयसे हिंसाकारी झूठ कभी न बोलना चाहिए और न बुलवाना चाहिए ।

३—अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, माया मोसं विवज्जए ॥

द० ८ : ४७

विवेकी पुरुष पूछे बिना न बोले और न बीचमें बोले । वह चुगली न खाय और कपटपूर्ण झूठसे दूर रहे ।

४—सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं ।
जं णेव सच्चं णेव मोसं, असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥

भाषा चार प्रकारकी होती है—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) सत्यासत्य और (४) न-सत्य-न-असत्य—सत्य-असत्य रहित व्यवहार भाषा।

५—चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो॥
द० ७ : १

प्रज्ञानवान् उपरोक्त चारों भाषाओंको अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओंसे व्यवहार करना सीखे और एकांत मिथ्या या सत्यासत्य इन दो भाषाओंको कभी न बोले।

६—जाय सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जाय बुद्धेहिऽणाइण्णा, न तं भासेज्ज पन्नवं॥
द० ७ : २

जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने लायक न हो, जो कुछ सच कुछ झूठ हो, जो भाषा मिथ्या हो तथा जो भाषा व्यवहार भाषा (न-सत्य न-असत्य) होने पर भी विचारशील पुरुषों द्वारा व्यवहारमें नहीं लाई जाती हो—विवेकी पुरुष ऐसी भाषा न बोले।

७—असच्चमोसं सच्चं य, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासेज्ज पन्नवं॥
द० ७ : ३

विवेकी निरवद्य—पाप-रहित, अकर्कश—प्रिय, हितकारी और असंदिग्ध—स्पष्ट अर्थवाली व्यवहार और सत्य भाषा बोले।

८—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥
द० ७ : ११

जीवोंके दिलोंको दुःखानेवाली कर्कश भाषा—सत्य होने पर भी विवेकी न बोले। ऐसी भाषासे पाप-बंधन होता है।

९—तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥

द० ७ : १२

विवेकी काणेको 'काणा', नपुंसकको 'नपुंसक' रोगीको 'रोगी' या चोरको 'चोर' न कहे।

१०—अप्पत्तिअं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं॥

द० ८ : ४८

जिससे अविश्वास उत्पन्न हो, दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा विवेकी पुरुष कभी न बोले।

११—एएणन्नेण अट्ठेणं परो जेणुवहम्मइ।
आयारभावदोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं॥

द० ७ : १३

आचार और भावके दोषोंको समझनेवाला विवेकी पुरुष उपर्युक्त या अन्य कोई भाषा जिससे कि दूसरेके हृदयको आघात पहुंचे न बोले।

१२—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तेरण वा॥

उत्त० १ : २५

विवेकी पुरुष अपने लिए, दूसरोंके लिए, अपने और दूसरे दोनोंके लिए पूछने पर सावद्य—पापकारी भाषा न बोले, न अर्थशुन्य और मार्मिक बात कहे।

१३—दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं॥

द० ८ : ४९

आत्मार्थी पुरुष दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट और अनुभूत वचन बोले। उसके वचन वाचालता रहित और किसीको भी उद्विग्न करनेवाले न हों।

२५ : अस्तेय

१—चित्तमन्तंमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया॥

द० ६ : १४, १५

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्प मूल्यवाला पदार्थ हो या बहुमूल्यवाला पदार्थ—यहां तक कि दांत कुरेदनेका तिनका भी हो—संयमी, स्वामीकी आज्ञा विना, उसे स्वयं ग्रहण नहीं करता, न दूसरेसे ग्रहण करवाता है और न ग्रहण करनेवालेको भला समझता है—उसका अनुमोदन करता है।

२—तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभाव तेणे य, कुव्वइ देवकिब्बिसं॥

द० ५।२ : ४६

जो नर तपका चोर, वचनका चोर, रूपका चोर, तथा आचार और भावका चोर होता है, वह नीच जातिके किल्वीषी देवोंमें उत्पन्न होता है।

३—रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं॥

उत्त० ३२ : २९, ४२, ५५, ६८, ८१, ९४

रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयोंमें गाढ़ आसक्तिवाला मनुष्य तुष्टि—संतोष नहीं पाता और अतृप्तिके दोषसे दुःखी और लोभसे कलुषित वह आत्मा दूसरेकी न दी हुई इष्ट वस्तु को ग्रहण करता—उसकी चोरी करता है।

४—इच्छामुच्छा तण्हागेहि असंजमो कंखा।
हत्थलहुत्तणं परहडं तेणिक्कं कूडया अदत्तं ॥

प्रश्न० १, ३ : १०

परधनकी इच्छा, मूर्छा, तृष्णा, गृद्धि, असंयम, कांक्षा, हस्तलघुता, परधन हरण, अस्तेनक, कूटतोलकूटमाप और विना दी हुए वस्तु लेना ये सब चोरीके ही अन्य नाम है।

५—अदत्तादाणं अकित्तिकरणं अणज्जं साहुगरहणिज्जं।
पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रागदोसबहुलं ॥

प्रश्न० १, ३ : ६

अदत्तादान अपयशका करनेवाला अनार्य कर्म है। यह सभी सन्तों द्वारा निंद्य है। यह प्रियजन, मित्रजनमें भेद औरअप्रतीति उत्पन्न करता है और राग-द्वेषसे भरा हुआ है।

६—हरदहमरणभयकलुसतासण परसंतिगऽभेज्जलोभमूलं।
उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं ॥

प्रश्न० १, ३ : ६

चौर्यकर्म दूसरेके हृदयको दाह पहुचाता है। यह मरण, भय, और त्रास उत्पन्न कराता है। परधनमें गृद्धिका हेतु औरलोभका मूल है। बड़े-बडे समर-संग्राम, डमर—स्वपरचक्रभय, क्लेश, कलह, वेध—पश्चाताप आदिका हेतु है।

२६ : ब्रह्मचर्य

१ : ब्रह्मचर्यकी महिमा

१—विणयसीलतवनियमगुणसमूहं तं बभं भगवंतं।
गहगणनक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुपत्ती ॥

प्रश्न० २ । ४

ब्रह्मचर्य—विनय, शील, तप, नियम आदि गुण-समूहमे उसी तरह सबसे प्रधान है जिस तरह ग्रह, नक्षत्र, और ताराओंमें उडुपति—चण्द्रमा।

२—दाणाणं चेव अभयदयाणं, ज्झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं।
णाणेसु य परमकेवलं तु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेसा ॥

प्रश्न० २ । ४

ब्रह्मचर्य सर्व गुण-समूहमें उसी तरह प्रधान है जिस तरह दानोंमें अभयदान, ध्यानमें परम शुक्लध्यान, ज्ञानमें सिद्धि देनेवाला परम केवलज्ञान और लेश्याओंमें परम शुक्ललेश्या।

३—एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे।
इहलोइयपारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य ॥
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं।
सीलं तवो य विणओ य संजमो खंती गुत्ती मुत्ती तहेव ॥

प्रश्न० २ । ४

इस तरह एक ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे अनेक गुण अधीन हो जाते हैं। यह व्रत इहलोक और परलोकमें यश कीर्ति और प्रतीतिका कारण है। जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रतकी आराधना करली—समझना चाहिए उसने सर्व व्रत, शील, तप, विनय, संयम, क्षांति, समिति-गुप्ति—यहां तक कि मुक्तिकी भी आराधना कर ली।

४—तम्हा निहुएण बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ।
विसुद्धं जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसंजउत्ति॥

प्रश्न० २।४

जब तक जीवन कायम रहे और जब तक शरीरमें रक्त और मांस हो तब तक सम्पूर्ण विशुद्धतापूर्वक निश्चल रूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

५—पसत्थं सोमं सुभं सिवं सया विसुद्धं।
सव्व भव्वजणाणुचिन्नं निस्संकियं निब्भयं॥

प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य व्रत सदा प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। वह परम विशुद्धि—आत्माकी महान् निर्मलता है। सब भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का आचीर्ण—उनका जीवन है। यह प्राणीको विश्वासपात्र—विश्वसनीय बनाता है—उससे किसीको भय नहीं रहता।

६—नित्तुसं निरायासं निरुवलेवं निव्वुतिघरं।
नियमनिप्पकंपं तवसंजममूलदलियणेम्मं॥

प्रश्न० २।४

यह तुस रहित धानकी तरह सार वस्तु है। यह खद रहित है। यह जीवको कर्मसे लिप्त नहीं होने देता। चित्तकी स्थिरताका हेतु है। धर्मी पुरुषोंका निष्कंप—शाश्वत नियम है। तप संयमका मूल—

आदि भूत द्रव्य है।

७—झाणवरकवाडसुकयरक्खणंमज्झप्पदिन्नफलिहं।
संन्नबद्धोच्छइयदुग्गइपहं सुगतिपहदेसगं च॥
प्रश्न० २।४

आत्माकी अच्छी तरह रक्षा करनेमें उत्तम ध्यानरूपी कपाट और आध्यात्मकी रक्षाके लिए अविकार रूप भोगल है, दुर्गतिके पथको रोकनेवाला वख्तर है, सुगतिके पथको प्रकाशित करनेवाला लोगोत्तम व्रत है।

८—लोगुत्तमं च वयवयविणं पउमसरतलागपालिभूयं।
महासगडअरगतुंबभूयं महाविडिमरुक्खक्खंधभूयं॥
प्रश्न० २।४

यह धर्म रूपी पद्म सरोवरकी पाल है, गुण रूपी महारथकी धुरा है। व्रत नियम रूपी शाखाओंसे फैले हुए धर्म रूपी बड़ वृक्षका स्कंध है।

९—महानगरपागारकवाडफलिहभूयं।
रज्जुपिणिद्धो व इदंकेतू विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं॥
प्रश्न० २।४

शील रूपी महानगरकी परिधि (परकोटे) के द्वारकी अर्गला—भोगल है। रस्सियोंसे बंधी इन्द्रध्वजाके समान अनेक गुणोंसे स्थिर धर्मपताका है।

१०—जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं सभग्गमद्दियमथिय।
चुन्निय कुसल्लिय पव्वयपडिय खंडिय परिसडिय विणासियं॥
प्रश्न० २।४

एक ब्रह्मचर्य व्रतके भंग होनेसे सहसा सब गुण भंग हो जाते हैं,

मर्दित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, कुसलित हो जाते हैं, पर्वतसे गिरी हुई वस्तुकी तरह टुकड़े २ हो जाते है और विनष्ट हो जाते है ।

२ : सबसे बड़ी आसक्ति

११—मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

उत्त० ३२ : १७

जो पुरुष मोक्षाभिलाषी हैं, संसारभीरु हैं, धर्ममें स्थित हैं—उनके लिए भी मूर्खके मनको हरनेवाली स्त्रियोंकी आसक्तिको पार पानेसे अधिक दुष्कर कार्य इस लोकमें दूसरा नहीं है ।

१२—ए ए संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥

उत्त० ३२ : १८

इस आसक्तिको जीत लेने पर शेष आसक्तियोंका पार पाना सरल है। महासागर तैर लेनेपर गङ्गाके समान नदियोंका तैरना क्या दुस्तर है ?

३ : ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपाय

(१) एकान्तवास

१३—जतुकुंभे जहा उवज्जोई
संवासे विदू विसीएज्जा

सू० १, ४। १ : २६

जैसे अग्निके निकट लाखका घड़ा गल जाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष भी स्त्रीके संवाससे विषादको प्राप्त होता है ।

१४—जहा बिरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बम्भयारिस्स खमो निवासो॥
उत्त० ३२ : १३

जैसे बिल्लियोंके वासके मूलमें—समीपमें—चूहेका रहना प्रशस्त सलामतभरा—नहीं, उसी तरहसे जिस मकानमें स्त्रियोंका वास हो उस स्थानमें ब्रह्मचारीके रहनेमें क्षेम कुशल नहीं।

१५—अहसेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवेगमायाय, संवासो न वि कप्पए दविए॥
सू० १, ४। १ : १०

विष मिश्रित खीरके भोजन करनेवाले मनुष्यकी तरह स्त्रियोंके सहवासमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको पीछे विशेष अनुताप करना पड़ता है। इसलिए पहलेसे ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियोंके साथ सहवास न करे।

१६—जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थी जणेण य।
बंभचेरस्सरक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥
उत्त० १६ : श्लो० १

मुमुक्षु ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए—विविक्त—खाली, अनाकीर्ण और स्त्रियोंसे रहित स्थानमें वास करे।

१७—जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं, मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ।
कहिंति य कहाओ बहुविहाओ, तेऽवि हु वज्जणिज्जा॥
प्रश्न० २, ४ भा० १

जहां मोह और रति—कामरागको बढ़ानेवाली स्त्रियोंका बार-बार आवागमन हो, और जहां पर नाना प्रकारकी मोहजनक स्त्री कथाएँ कही जाती हों—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारीके लिए वर्जनीय हैं।

१८—जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा वा ।
अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्जऽवज्जभीरू ॥

प्रश्न० २, ४ भावना १

जिस स्थानमें रहनेसे मन अस्थिरताको प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण रूपमे या अंश रूपसे भंग होनेकी आशंका हो और अपध्यान—आर्त्त और रौद्र ध्यान—उत्पन्न होता हो, उस स्थानका पापभीरु ब्रह्मचारी वर्जन करे ।

(२) स्त्री कथा विरति

१६—नारी जणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता ।
विब्वोयविलाससंपउत्ता, हाससिंगारलोइयकहव्व ॥

ब्रह्मचारी स्त्रियोंके बीचमें कामपूर्ण कथा न कहे । वह चित्र-विचित्र, कामुक स्त्रियोंकी चेष्टा-प्रचेष्टा युक्त और विलास, हास्य और शृंगारोत्पादक लौकिक कथाएँ न कहे ।

२०—कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमबंभचेरघातोवघातियो ।
अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहेयव्वा न सुणेयव्वा न चिंतेयव्वा ॥

शृंगार रसके कारण मोह उत्पन्न करनेवाली तथा तप, संयम और ब्रह्मचर्यका घात-उपघात करनेवाली—कामुक कथाएं ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे ।

(३) नारी-प्रसंग विरति

२१—से णो काहिए, णो पासणिए ।
णो संपसारए, णो ममाए ॥
णो कयकिरिए, वइगुत्ते ।
अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं ॥

आ० १ । ५ : ४

ब्रह्मचारी स्त्री-सम्बन्धी शृंगार कथा न कहे। स्त्रियोंके अंगोपांग आदिका निरीक्षण न करे। स्त्रियोंके साथ परिचय न करे, उनसे ममता न करे, उनकी आगत-स्वागत न करे और अधिक क्या स्त्रियोंसे बातचीत करनेमें भी अत्यन्त मर्यादित रहे तथा मनको वशमें कर हमेशा पापाचारसे दूर रहे।

२२—कुव्वन्ति सन्थवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कण्टगं नच्चा॥
सू० १, ४। १ : १६, ११

जो स्त्रियोंके साथ परिचय करता है वह समाधि योगसे भ्रष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियोंको विष लिप्त कंटकके समान जानकर ब्रह्मचारी उनके संसर्गका वर्जन करे।

२३—जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बम्भयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥
द० ८ : ५४

जैसे कुकड़ी—मूर्गीके बच्चेको बिल्लीसे हमेशा भय रहता है, उसी तरह ब्रह्मचारीको स्त्री-शरीरसे भय रहता है।

२४—हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥
द० ८ : ५६

अधिक क्या जिसके हाथ पैर प्रतिछिन्न हैं, जो नकट्टी और बुची ऐसे विकृत अंगवाली सौ वर्षकी डोकरी है, उसके संसर्गसे भी ब्रह्मचारी बचे।

२५—नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे।
नो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ॥
सू० १, ४। १ : ५

ब्रह्मचारी स्त्रियों पर दृष्टि न सांधे, उनके साथ कुकर्मका साहस न करे। ब्रह्मचारी स्त्रियोंके साथ विहार अथवा एकांत वास न करे। इस प्रकार स्त्री प्रसंगसे बचनेसे आत्मा नाशोंसे सुरक्षित होता है।

(४) दर्शन विरति

२६—अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं॥

द० ८ : ५८

स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यंग, उनकी मनोहर बोली और चक्षु विनयास—ब्रह्मचारी इन सब पर ध्यान न लगावे। ये सब बातें कामरागकी वृद्धि करनेवाली हैं।

२७—चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे॥

द० ८ : ५५

आत्मगवेषी पुरुष सुअलंकृत नारीकी ओर—यहां तक की दीवार पर अङ्कित चित्र तक की ओर गृद्ध-दृष्टिसे न ताके। यदि दृष्टि पड़ भी जाय तो सूर्यकी किरणोंके सामनेसे जैसे उसे हटाते हैं उसी तरह हटा लें।

२८—अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हिअं सया बंभचेरे रयाणं॥

उत्त० ३२ : १५

स्त्रियोंके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मंजुल भाषण, अङ्ग-विनयास और कटाक्ष आदिको न देखना चाहिए। उनकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उनका मनमें चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनका कीर्त्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रतमें रत पुरुषके लिए ये नियम सदा

हितकारी और आर्य ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करनेमे सहायक है।

(५) शब्द विरति

२६—कूइअं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए॥
उत्त० १६ : श्लो ५

ब्रह्मचारी स्त्रियोंके मधुर ध्वनि, रुदन, गीत, हास्य, विलाप, क्रंदन अथवा विषय-प्रेमके शब्दोंको सुननेसे दूर रहे।

(६) स्मरण विरति

३०—हासं किड्डं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणी य।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि॥
उत्त० १६ : श्लो० ६

ब्रह्मचारी पूर्व कालमें स्त्रीके साथ भोगे हुए हास्य, क्रीड़ा, मैथुन, दर्प और सहसा वित्रासन आदिके प्रसंगोंका कभी भी स्मरण न करे।

३१—मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
ज दूमण तेहि नो नया, ते जाणन्ति समाहिमाहियं॥
सू० १, २ : २७

दीन बनानेवाले पूर्व भोग हुए विषय-भोगोंका स्मरण मत कर, न उनकी कामना कर। सारी उपाधियों—दुष्प्रवृत्तियोंका दूर कर। मनको दुष्ट बनानेवाले विषयोंके सामने जा नत मस्तक नहीं होता वह जिन-कथित समाधिको जानता है।

(७) रस विरति

३२—रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥
उत्त० ३२ : १०

घी, दूध आदि रसोंका बहुत सेवन नहीं करना चाहिए। रस पदार्थ मनुष्योंके लिए दीप्तिकर—उद्दीपक होते हैं। जिस तरह स्वादु फलवाले वृक्षकी ओर पक्षी दलके दल उड़ आते हैं उसी तरहसे दीप्त वीर्यवान पुरुषकी ओर काम वासनाएँ दौड़ी चली आती हैं।

(८) अति भोजन विरति

३३—जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥

उत्त० ३२ : ११

जिस तरह प्रचुर काष्ठसे भरे हुए वनमें अग्नि लग जाय और साथ ही पवन चलती हो तो दावाग्नि नहीं बुझती उसी तरहसे अति मात्रामें—यथेच्छ आहार करनेवाले मनुष्यकी इन्द्रियाग्नि शान्त नहीं होती। ब्रह्मचारीके लिए अति आहार हितकर नहीं है।

३४—न बहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं न खद्धं।
तहा भोत्तव्वं जह से जायमाता य भवति॥

प्रश्न० २ : ४ भ० ५

ब्रह्मचारी एक दिनमें बहु बार आहार न करे, प्रतिदिन आहार न करे, अधिक शाक दाल न खाय, अधिक मात्रामें भोजन न करे। जितना संयम यात्राके लिए जरूरी हो उसी मात्रामें ब्रह्मचारी आहार करे।

३५—न य भवतिविब्भमो न भंसणा य धम्मस्स।
अंतरप्पा आरतमणविरतगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते॥

प्रश्न० २ : ४ भा० ५

विभ्रम न हो, धर्मसे भ्रंश न हो—आहार उतनी ही मात्रामें होना चाहिए। इस समितिके योगसे जो भावित होता है, उसकी अंतरात्मा तल्लीन, इन्द्रियोंके विषयसे निवृत, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्यके

रक्षाके उपायोंसे युक्त होती है ।

(९) शृङ्गार विरति

३६—विभूसावत्तिए खलु विभूसियसीररे।
इत्थिजणस्स अहिलसणिज्जे हवइ ॥

उत्त० १६ : १ । २

विभूषाके स्वभाववाला ब्रह्मचारी निश्चय ही विभूषित शरीरके कारण स्त्रियोंका काम्य—उनकी अभिलाषाका पदार्थ हो जाता है ।

३७—तस्सबंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा।
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिजा ॥

उत्त० १६ : १२

जो ब्रह्मचारी स्त्रियोंकी अभिलाषाका इस तरह शिकार बनता है, उसके मनमें ब्रह्मचर्य उत्तम है या नहीं—ऐसी शंका उत्पन्न होती है । फिर उसके मनमें विषयभोगकी आकांक्षा उत्पन्न होती है और ब्रह्मचर्य के उत्तम फलमें विचिकित्सा—विकल्प—संदेह उत्पन्न होता है और इस तरह वह ब्रह्मचर्य धर्मसे च्युत हो जाता है ।

(१०) कामभोग विरति

३८—सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥

उत्त० १६ श्लो० १०

ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकारके इन्द्रियोंके विषयोंको सदाके लिए छोड़ दे ।

३९—विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पोग्गलाणय ॥

द० ८ : ५९

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलोंके परिणामोंको अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयोंमें रागभाव न करे।

४०—पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा॥

द० ८ : ६०

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलोंके परिणामोंको यथातथ्य जानकर ब्रह्मचारी अपनी आत्माको शीतल कर, तृष्णा रहित हो जीवन यापन करे।

४१—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

द० २ : २, ३

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियों और शय्याका केवल परवशतासे—उनके अभावमें सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं है। पर जो कांत और प्रिय भोग सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—जो स्वाधीन भोगोंका त्याग करता है—वही सच्चा त्यागी—ब्रह्मचारी है।

४२—विवित्तसेज्जासणजंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं॥

उत्त० ३२ : १२

एकान्त शय्यासनके सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुषके चित्त को विषय रूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकता। औषधसे जैसे व्याधि पराजित हो जाती है वैसे ही इन नियमोंके पालनसे विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है।

(११) उपसंहार

४३—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसणं ॥
कूइयं रुइयं गीयं, हासभुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥
गतभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥

उत्त० १६ : श्लो० ११-१३

(१) स्त्रियोंसे आकीर्ण निवास, (२) मनोहर स्त्री कथा, (३) स्त्री सहवास और परिचय, (४) स्त्रियोंकी इन्द्रियोंका निरीक्षण, (५) उनके कूजन, रूदन, गीत और हास्यका सुनना, (६) उनके साथ एकासन, (७) स्निग्ध रसदार खान पान, (८) अति खान-पान (९) गात्र विभूषा—शरीर शृंगार तथा (१०) काम भोग—शब्दादि विषयोंमें आशक्ति—ये सब बातें प्रिय होती हैं और उनका त्याग बड़ा कठिन होता है परन्तु आत्मगवेषी ब्रह्मचारीके लिए ये सब तालपुट विषकी तरह हैं ।

४४—दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

उत्त० १६ : श्लो० १४

ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगोंका सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्यके लिए जो शंका—विघ्नके स्थान हों उन्हें एकाग्रसे मनसे वर्जन करे—टाले ।

४५—बम्भयारिस्स बम्भचेरे, संका वा कंखा वा
विइगिन्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेअं वा लभेज्जा

उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा
रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा

उत्त० १६ : ४

जो उपर्युक्त समाधि-स्थानोंके प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रतोंमें शंका उत्पन्न होती है, फिर विषयभोगोंकी आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्यके फलके विषय में विचिकित्सा—संदेह उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यका नाश हो जाता है। उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्तमें चित्तसमाधिके भङ्ग होनेसे वह केवली भाषित धर्मसे भ्रष्ट—पतित हो जाता है।

४ : परनारी

४६—अवि हत्थपायछेयाए अदु वा वद्धमंसउक्कन्ते।
अवि तेयसाभितावणाणि तच्छिय खारसिंचणाइं य॥

सू० १, ४ । १ : २१

जो लोग पर स्त्रीका सेवन करते हैं उनके हाथ पैर काट लिए जाते हैं अथवा उनकी चमड़ी और मांस कतर लिए जाते हैं तथा अग्निके द्वारा वे तपाए जाते हैं एवं उनका अङ्ग काटकर क्षारके द्वारा सिंचन किया जाता है।

४७—अदु कण्णनासछेयं कण्ठच्छेयणं तिइक्खन्ती।
इइ एत्थ पावसंतत्ता न वेन्ति पुणो न काहिन्ति॥

सू० १, ४ । १ : २२

पापी पुरुष इस लोकमें कान, नाक और कण्ठका छेदन सह लेते हैं परन्तु यह नहीं निश्चय कर लेते कि हम अब पाप नहीं करेंगे।

४८—अणागयमपस्सन्ता पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पन्ति खीणे आउम्मि जोव्वणे॥

सू० १, ३। ४ : १४

असत् कर्मसे भविष्यमें होनेवाले दुःखोंकी ओर न देख जो केवल वर्त्तमान सुखोंको खोजते हैं वे यौवन और आयु क्षीण होने पर पश्चाताप करते हैं।

५ : ब्रह्मचारीकी महिमा

४९—वाउ व्व जालमच्चेइ पिया लोगंसि इत्थियो।

सू० १, १५ : ८

जैसे वायु अग्निकी ज्वालाको पार कर जाता है वैसे ही महापराक्रमी पुरुष इस लोकमें प्रिय स्त्रियोंके मोहको उल्लंघन कर जाते हैं।

५०—इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा।

सू० १; १५ : ६

जो पुरुष स्त्रियोंका सेवन नहीं करते वे मोक्ष पहुचनेमें सबसे अग्रसर होते हैं।

५१—जे विन्नवणाहिजोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा अदक्खु कामाइं रोगवं॥

सू० १, २। ३:२

कामको रोगरूप समझकर जो स्त्रियोंसे अभिभूत नहीं हैं, उन्हें मुक्त पुरुषोंके समान कहा है। स्त्री-परित्यागके बाद ही मोक्षके दर्शन सुलभ हैं।

५२—नीवारे व न लीएज्जा छिन्नसोए अणाविले।
अणाइले सया दन्ते, संधिं पत्ते अणेलिसं॥

सू० १, १५ : १२

स्त्री-प्रसंग सूअरको फंसानेवाले चावलके कणकी तरह है। विष
और इन्द्रियोंको जीतकर जो छिन्नस्त्रोत हो गया है तथा जो रा
द्वेष रहित है वह स्त्री-प्रसंगमें न फंसे। जो विषयभोगोंमें अनाकु
और सदा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पुरुष है वह अनुपम भावसन्
(कर्मक्षय करनेकी मानसिक दशा) को प्राप्त करता है।

५३—जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥
सू० १, ३।४ : १६

जिस तरह सर्व नदियोंमें वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है
उसी तरह इस लोकमें अविवेकी पुरुषके लिए स्त्रियोंका मोह जीतन
कठिन है।

५४—जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, तेठिया सुसमाहिए॥
सू० १।३।४ : १७

जिन पुरुषोंने स्त्री-संसर्ग और काम-शृंगारको छोड़ दिया है, वे
समस्त विघ्नोंको जीतकर उत्तम समाधिमें निवास करते हैं।

५५—एए ओघं तरिस्सन्ति, समुद्दं ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चन्ती सयकम्मुणा॥
सू० १,३।४ : १८

ऐसे पुरुष इस संसार-सागरको, जिसमें जीव अपने-अपने कर्मोंसे
दुःख पाते हैं, उसी तरह तिर जाते हैं जिस तरह वणिक् समुद्र को।

५६—देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेन्ति ते॥
उत्त० १६ : १६

देव, दानव, गंधर्व, राक्षस और किन्नर ये सब दुष्कर करनेवाले (दुष्कर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले) ब्रह्मचारीको नमस्कार करते हैं।

५७—एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥

उत्त० १६ : १७

यह धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिन भगवान्का कहा हुआ है। पूर्वमें इस धर्मके पालनसे अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे।

२७ : अपरिग्रह

१—कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥
उत्त० ८ : १६

यदि धनधान्यसे परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तो भी उससे संतोष होनेका नहीं । लोभी आत्माकी तृष्णा इसी तरह दुष्पूर होती है ।

२—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥
उत्त० ४ : ५

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें । हाथमें दीपक होनेपर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामनेका मार्ग दिखाई नहीं देता, उसी तरहसे धनके असीम मोहसे मूढ़ मनुष्य न्यायमार्गको देखता हुआ भी नहीं देख सकता ।

३—जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा, समाययन्ती अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥
उत्त० ४ : २

जो मनुष्य धनको अमृत मान अनेक पाप कर्मों द्वारा उसे कमाते हैं, वे अन्तमें कर्मोंके दृढ़ पाशमें बंधे हुए अनेक जीवोंसे वैर विरोध बांध और सारी धन संपत्ति यहीं छोड़ नरकवास प्राप्त करते हैं।

४—सुवण्णरुपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥
उत्त० ६। ४८॥

कदाच सोने और चांदीके कैलासके समान असख्य पर्वत हो जांय तो भी लोभी मनुष्यके लिए वे कुछ भी नहीं होते। इच्छा आकाशके समान अनन्त है।

५—परिव्वयन्ते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च॥
उत्त० १४ : १४

दूसरोंकी जरा भी परवाह न कर धनकी खोज करनेवाला, रात-दिन उसके लिए परितप्त रह चक्कर लगानेवाला और कामलालसासे अनिवृत्त मनुष्य धनकी कामना करते करते ही मृत्यु और जराको प्राप्त हो जाता है।

६—वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं, ममत्तबन्धं च महब्भयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाण गुणावहं महं॥
उ० १९ : ९८

धनको दुःख बढ़ानेवाला, ममत्व-बन्धनका कारण और महा-भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम और महान् धर्मधुराको धारण करो जो निर्वाण गुणोंको वहन करनेवाली है।

७—माहणा खत्तिया वेस्सा, चण्डाला अदु वोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभनिस्सिया॥

परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा॥

सू० १; ६ : ३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस, एषिक, वैशिक, शुद्र—जो भी आरम्भ—यन्त्रपीडन, निर्लाच्छन आदि जीवोपमर्दकारी कार्यों में आसक्त हैं—उन परिग्रही जीवोंका—हिरण्य सुवर्ण, धन धान्य, क्षेत्रवास्तु, द्विपद-चतुष्पद तथा घरसामानमें ममत्व करनेवाले जीवोंका—दूसरे जीवोंके साथ वैर ही बढ़ता है। आरम्भमें भरे हुए—परिग्रहमें आसक्त—वे विषयी जीव दुःखोंका मोचन नहीं कर सकते।

८—पुढवी अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा।
अण्डया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया॥
एएहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं, नारम्भी न परिग्गही॥

सू० १, ६ : ८, ६

पृथ्वी अग्नि, वायु, जल तथा तृण-वृक्ष-धान्य आदि वनस्पति—ये और अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये त्रस—

इन छः ही प्रकारके जीवोंको भलीभांति जानकर विज्ञ पुरुष मन, वचन और कायासे इनके प्रति आरंभी और परिग्रही न हो—वह इनके प्रति आरम्भ और परिग्रह भावनाका त्याग करे।

६—आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाइ से साहसकारिमंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरे व्व॥

सू० १, १० : १८

आयु पल-पल क्षीण हो रहा है, यह न समझ कर मूर्ख मनुष्य

विना विचारे ममता करता रहता है। मूर्ख मनुष्य धनमें आसक्त होकर अजर अमर पुरुषकी तरह रात-दिन उसके लिए परिताप करता है। यह उसका कितना बड़ा दुःसाहस है!

१०—थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोअणे॥
उत्त० ६ : ६

धन, धान्य और घर-सामान—स्थावर और जंगम कोई भी सम्पत्ति कर्मोंसे दुःख पाते हुए प्राणीको दुःखसे मुक्त करनेमें समर्थ नहीं है।

११—खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे॥
उत्त० १९ : १७

मनुष्यको सोचना चाहिए—क्षेत्र—भूमि, घर, सोना-चांदी, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस देहको भी छोड़ कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा।

१२—भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि॥
उत्त० ८ : ५

भोग रूपी आमिसमें गृद्ध, हित और निश्रेयसमें विपर्यय बुद्धिवाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव उसी तरह कर्मपासमें बध जाता है जिस तरह मक्खी श्लेष्ममें।

१३—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं॥
उत्त० ८ : १८

जिनके वक्षस्थलमें मांसके कुच हैं और अनेक जिनके चित्त है ऐसी राक्षसी स्त्रियोंमे मुमुक्षु मूर्छित न हो। ऐसी राक्षसी स्त्रियां पहले पुरुषको प्रलोभनमें डाल बादमें उसके साथ दासके समान क्रीड़ा करते—व्यवहार करती हैं।

१४—चित्तमन्तमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा न मुच्चई॥

सू० १, १। १ : २

जब तक मनुष्य (कामिनी कांचन वगैरह) सचित्त या अचित्त पदार्थोंमें परिग्रह—आसक्ति रखता है या जो ऐसा करते हैं उनका अनुमोदन करता है तब तक वह दुःखसे मुक्त नहीं हो सकता।

१५—जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे।
ममाइ लुप्पई बाले अन्ने अन्नेहि मुच्छिए॥

सू० १, १। ४ :

मूर्ख मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है अथवा जिनके साथ निवास करता है—उनमें ममत्व करता हुआ अपनेसे भिन्न वस्तुओं में इस मूर्छाभाव—मोहभावसे अन्तमें बहुत पीड़ित होता है।

१६—वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टइ॥

सू० १, १ : ५

धन और सहोदर—ये सब रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते। यह जानकर तथा जीवन अल्प है—यह जानकर (विरक्त होनेवाला) कर्मोंसे छूट जाता है।

: २ :

निर्ग्रन्थ पद

१ : वैराग्य और प्रव्रज्या

१—सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ॥

उत्त० १६ : ११

वैरागी बोला :

"हे माता ! मैंने पांच महाव्रत सुने है । नरक और तिर्यक् योनिके दुःखोंको सुना है । मैं इस संसार-रूपी समुद्रसे निवृत्त होनेकी कामना वाला हो गया हूं । हे माता ! मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा । मुझे आज्ञा दें ।

२—अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विषफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥

उत्त० १६ : १२

"हे माता पिता ! मैं कामभोग भोग चुका । ये कामभोग विषफलके समान हैं । बादमें इनका फल बड़ा कटु होता है । ये निरन्तर दुःखावह हैं ।

३—असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसन्निभे ॥

उत्त० १६ : १४

"यह शरीर फेनके बुद्बुद्की तरह क्षणभंगुर है। इसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। इस अशाश्वत शरीरमें मुझे जरा भी आनन्द नहीं मिलता।

४—एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

उत्त० १६ : २४

"जरा और मरण रूपी अग्निसे जलते हुए इस लोकसे मैं अपनी आत्माका उद्धार करूंगा। हे माता-पिता ! आप मुझे आज्ञा दें।"

५—तं बिन्तम्मापियरो, सामण्णं पुत्त दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ॥

उत्त० १६ : २५

माता पिता बोले :

"हे पुत्र ! भिक्षुको सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं। श्रामण्य बड़ा दुश्चर है।

६—जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो।
गुरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥

उत्त० १६ : ३६

"हे पुत्र ! इस श्रामण्य वृत्तिमें जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है। भारी लोहभारकी तरह यह गुणोंका बड़ा बोझा है जिसे वहन करना बड़ा दुष्कर है।

७—समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं॥
उ० १९ : २६॥

"शत्रु मित्र—संसारके सभी प्राणियोंके प्रति समभाव और यावज्जीवनके लिए प्राणातिपातसे विरति—यह दुष्कर है।

८—निच्चकालप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं॥
उ० १९ : २७

"सदैव अप्रमत्तभावसे मृषावाद—झूठका विवर्जन करना और सदा उपयोग—सावधानी—पूर्वक हितकारी सत्य बोलना—यह दुष्कर है।

९—दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं॥
उ० १९ : २८

"दंत शोधनकी शली जैसे पदार्थका भी बिना दिए ग्रहण न करना तथा निरवद्य और निर्दोष पदार्थ ही ग्रहण करना—यह दुष्कर है।

१०—विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥
उ० १९ : २९

"कामभोगके रसको जो जान चुका उसके लिए अब्रह्मचर्यसे विरति और यावज्जीवनके लिए उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्यका धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

११—धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारम्भपरिच्चागो, निम्ममत्तं सुदुक्करं॥
उ० १९ : ३०

"धन, धान्य, प्रेष्य वर्ग आदि परिग्रहका यावज्जीवनके लिए विवर्जन तथा सर्व आरम्भका त्याग—ऐसा निर्ममत्व भाव दुष्कर है।

१२—चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं॥

उ० १६ : ३१

"चारों ही प्रकारके आहारका रात्रि भोजन छोड़ना तथा दूसरे दिनके लिए संचयकर रखनेका परिहार करना—दुष्कर है।

१३—कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणो॥

उ० १६ : ३४

"मुनि जीवन कापोत वृतिके समान है। केशलोंचन अत्यन्त दारुण है और कठिन ब्रह्मचर्य व्रतका धारण करना भी कष्टकर है। महात्मा को ये ही गुण धारण करने पड़ते हैं।

१४—बालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो॥

उ० १६ : ३८

"सयम बालूके कवलकी तरह निरस है। तथा तपका आचरण असिधार पर चलनेके समान दुष्कर है।

१५—जहादुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीबेणं समणत्तणं॥

उ० १६ : ४१

"जैसे वायुसे कोथला—थैला—भरना कठिन है उसी प्रकार क्लीब (सत्वहीन) पुरुषके लिए सयमका पालन करना कठिन है।

१६—जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥

उ० १६ : ४३

"जिस तरह भुजाओंसे रत्नाकर—समुद्रका तिरना दुष्कर है उसी तरह अनुपशांत आत्मा द्वारा दम रूपी समुद्रका तैरना दुष्कर है।

१७—अहीवेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥

उत्त० १६ : ३६

"हे पुत्र ! सर्पकी तरह एकान्त दृष्टिसे चारित्रका पालन बड़ा कठिन है। जैसे लोहके यवोंका चाबना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना दुष्कर है।

१८—जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥

उत्त० १६ : ४०

"जिस तरह प्रज्वलित अग्निशिखाका पीना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्थामें श्रमणत्वका पालन करना बड़ा दुष्कर है।"

१६—सुहोइओ तुमं पुत्ता, सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हुसी पभू तुमं पुत्ता, सामण्णमणुपालिया ॥

उत्त० १६ : ३५

"हे पुत्र ! तू सुखमें रहा है, सुकुमार है और एशोराममें पला है। अतः हे पुत्र तू श्रामण्य पालनमें समर्थ नहीं है।'

२०—सो वितऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥

उत्त० १६ : ४५

वैरागी बोला :

"हे माता पिता ! आपने प्रव्रज्याके विषयमें कहा वह सत्य है, पर इस लोकमें जो पिपासा—तृष्णा—रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं ।

२१—अग्गं वणिएहि आहियं धारेन्ति राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ।
सू० १, २ । ३ : ३

"जिस तरह बनियों द्वारा दूर देशसे लाए हुए रत्नादि बहुमूल्य और उत्तम द्रव्योंको राजा महाराज आदि धारण करते हैं उसी तरह ज्ञानियों द्वारा कहे हुए पांच महाव्रत और छट्ठे रात्रिभोजनविरमण व्रतको आत्मार्थी पुरुष ही धारण करते है ।

२२—मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्ब ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहा सुहं ॥
उत्त० १९ : ८६

"हे माता-पिता ! आप दोनोंकी अनुज्ञा पा मैं मृगचर्याका आचरण करूंगा । प्रव्रज्या सर्व दुखोंसे मुक्त करनेवाली है ।"

माता पिता बोले : "हे पुत्र ! जाओ । यथासुख विचारो ।"

२३—एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ता ण बहुविहं ।
ममत्तं छिन्दई ताहे, महानागो व्व कंचुयं ॥
उत्त० १९ : ८७

इस प्रकार मातापिताको सम्मत कर वह वैरागी अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोडता है जिस प्रकार महानाग कांचलीको छोड़ता है ।

२४—इड्ढी वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ।
रेणुअं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ता ण निग्गओ॥

उत्त० १६ : ८८

जैसे कपड़ेमें लगी हुई रेणु—रजको झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार ऋद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनोंके मोहको छिटकाकर वह वैरागी घरसे निकल पड़ा।

२५—पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ।

उत्त० १६ : ८६

पांच महाव्रतोंसे युक्त, पांच समितियोंसे समित और तीन गुप्तियोंसे गुप्त वह मुनि बाह्य और आभ्यन्तर तप कर्ममें उद्यत हो गया।

२ : छ महाव्रत

१—पढमे भन्ते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेव अन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।[1] द० ४ : १

हे भदन्त ! प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातसे विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व प्राणातिपातका प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी है, मैं उनकी हिंसा नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—प्राणातिपात करनेका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैंने अतीतमें जो प्राणातिपात किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपनी आत्माको उस पापसे छुड़ाता हूँ। हे भदन्त ! सर्व प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रतमे मैं अपनेको अवस्थित करता हूँ।

१—मिलाइए—आचारांग सूत्र श्रु० २, २४ : १०२९-६४

२—अहावरे दुच्चे भन्ते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वइज्जा नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं । द० ४ : २

हे भदन्त ! इसके बाद दूसरे महाव्रतमें मृषावाद—झूठसे विरमण करना होता है । हे भदन्त ! मैं सर्व मृषावादका प्रत्याख्यान करता हूँ । क्रोध से या लोभ से या भय या हँसीमें मैं स्वयं झूठ नहीं बोलूगा, न बुलाऊँगा और न झूठ बोलनेवालेका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप से—मृषावादका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है । हे भदन्त ! मैं अतीतमें झूठ बोला हूं उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ । हे भदन्त ! मैं सर्व मृषावादसे विरति रूप इस दूसरे महाव्रतमें अव-स्थित होता हूँ ।

३—अहावरे तच्चे भन्ते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं

न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं। द० ४ : ३

इसके बाद तीसरे महाव्रतमें अदत्त—चोरीसे विरमण करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्व अदत्त ग्रहणका प्रत्याख्यान करता हूँ। ग्राममें या नगरमें या अरण्यमें—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—किसी भी अदत्त वस्तुको मैं ग्रहण नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न अदत्त ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—अदत्त ग्रहणका यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! अतीतमें मैंने चोरी की है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मैं सर्व अदत्तसे विरत रूप इस तीसरे महाव्रतमें अवस्थित होता हूँ।

४—अहावरे चउत्थे भन्ते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भन्ते! मेहुणं पच्चक्खामि से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

द० ४ : ४

हे भदन्त ! इसके बाद चौथे महाव्रतमें मैथुनसे विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व मैथुनका प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी—जो भी मैथुन है मै उसका स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरेसे नहीं कराऊँगा और न मैथुन सेवन करनेवालाका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे —मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे मैथुन सेवनका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैने अतीतमें मैथुन सेवन किया उससे अलग होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मै सर्व मैथुनसे विरति रूप इस चौथे महाव्रतमे अपनेको उपस्थित करता हूँ।

५ – अहावरे पञ्चमे भन्ते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! परिग्गहं पच्चक्खामि से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पञ्चमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। द० ४ : ५

हे भदन्त ! इसके बाद पांचवें महाव्रतमें परिग्रहसे विरमण करना पड़ता है। हे भदन्त ! मैं सर्व प्रकारके परिग्रहका प्रत्याख्यान करता हूँ। अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त— जो भी परिग्रह है मै उसका ग्रहण नही करूँगा, दूसरेसे नहीं कराऊँगा

और न परिग्रह ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे परिग्रह ग्रहणका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! मैंने अतीतमें परिग्रह सेवन किया उससे अलग होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका व्युत्सर्ग करता हूँ। मैं सर्व परिग्रहसे विरति रूं। इस पांचवें महाव्रतमें अपने को उपस्थित करता हूँ।

६—अहावरे छट्ठे भन्ते! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते! राइभोयणं पच्चक्खामि से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजन्तेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भन्ते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइ-भोयणाओ वेरमणं।

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहिय-ट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। द० ४ : ६

हे भदन्त! इसके बाद छट्ठे व्रतमें रात्रि भोजनसे विरमण करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्वरात्रि-भोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ। अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य—जो भी वस्तुएँ हैं मैं उनका स्वयं रात्रिमें भोजन नहीं करूँगा, न दूसरोंसे कराऊँगा और न रात्रिमें भोजन करने वालोंका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध—त्रिविध रूपसे-मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे रात्रिभोजनका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान—त्याग है। हे भदन्त! मैंने अतीतमें

रात्रिभोजन किया उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मैं सर्व रात्रि भोजनसे विरति रूप इस छट्ठे व्रतमें अपनेको उपस्थित करता हूँ।

पूर्वोक्त पांच महाव्रत और छट्ठे इस रात्रि भोजन विरमण व्रतको आत्महितके लिए ग्रहण कर मैं संयममें विचरण करता हूँ।

३ : आठ प्रवचन माताएँ

१—अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिआ ॥

उत्त० २४ : १

समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताएँ कही गई हैं। समिति पांच हैं और गुप्तिया तीन।

२—इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥

उत्त० २४ : २

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और उच्चारसमिति तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति—ये आठ प्रवचन माताएँ हैं।

३—एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥

उत्त० २४ : ३

नीचे इन आठ—५ समितियों और ३ गुप्तियोंका सक्षेपसे वर्णन किया गया है। जिन भाषित द्वादशांग रूप प्रवचन इन्हीके अन्दर समाया हुआ है।

(१) ईर्या समिति

४—तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पह वज्जिए॥

उत्त० २४ : ५

ज्ञान, दर्शन और चरण—ये ईर्याके हेतु है। ईर्याका काल दिन कहा गया है। ईर्याका मार्ग—उत्पथवर्जन—सुपथ है।

५—दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ॥

उत्त० २४ : ७

द्रव्यसे—आंखोंसे देखकर चले। क्षेत्रसे—युग—चार हाथ प्रमाण मार्गको देखकर चले। कालसे—जब तक चलता रहे यत्न रखे। भावसे—सदा उपयोग पूर्वक चले।

६—इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पञ्चहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए॥

उत्त० २४ : ८

इन्द्रियोंके विषयों और पांच प्रकारके स्वाध्यायको छोड़, चलनेमें ही तन्मय हो और उसीको सम्मुख रख—प्रधान कर मार्गमें उपयोग-पूर्वक चले।

(२) भाषा समिति

८—कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य॥

उत्त० २४ : ९

क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा वाणीमें ये दोष न आंय इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए।

९—एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥

उत्त० २४ : १०

प्रज्ञावान् संयमी इन आठ स्थानोंका वर्जन करता हुआ यथासमय परिमित और असावद्य भाषा बोले।

१०—तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणो वि गिरं वइज्जा।

द० ७ : ५४

जो भाषा सावद्य—पापकार्यकी अनुमोदना करनेवाली हो, जो निश्चयात्मक हो, जो परकी घात करनेवाली हो, ऐसी भाषा मुनि क्रोध से, लोभसे, भयसे या हास्य परिहास्यसे न बोले।

११—सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिर चं दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

द० ७ : ५५

जो मुनि सुवाक्यशुद्धिकी आलोचना कर दुष्ट गिराको सदाके लिए छोड़ देता है और जो विचार कर मित और अदुष्ट भाषा बोलता है वह सत्पुरुषोंमें प्रशंसा प्राप्त करता है।

१२—भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

द० ७ : ५६

षट्कायके जीवोंके प्रति संयत तथा श्रामण्यमें सदा यत्नशील बुद्ध पुरुष भाषाके गुण और दोषोंको भली भांति जानकर दुष्ट भाषाको सदाके लिए छोड़ दे और हितकारी तथा सुमधुर भाषा बोले।

(३) एषणा समिति

१३—जाइं चत्तारिऽभुज्जाइं, इसिणाऽऽहारमाइणि ।
ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥

द० ६ : ४७

जो आहारादि चार पदार्थ मुनियोंके लिए अकल्पनीय—अभोग्य है उन सबका निश्चयपूर्वक त्याग करता हुआ साधु संयमका यथाविधि पालन करे ।

१४—पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव च ।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥

द० ६ : ४८

पिण्ड-आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र ये चार पदार्थ अकल्पनीय हों तो साधु उन्हें ग्रहण न करे और कल्पनीय हों तो ग्रहण करे ।

१५—जे नियागं ममायंति कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति इइ वुत्तं महेसिणा ॥

द० ६ : ४९

जो साधु नित्य आमंत्रित आहार, साधुके लिए मोल लिया हुआ आहार, उसके लिए बनाया हुआ—औद्देशिक आहार तथा सम्मुख लाया हुआ आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणी-वधकी अनुमोदन करते हैं, ऐसा महर्षिने कहा है ।

१६—तम्हा असणपाणाइं कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ॥

द० ६ : ५०

इसलिए जो स्थिरात्मा धर्मजीवी निर्ग्रन्थ हैं वे क्रीत-कृत, औद्देशिक

और आहृत अशन पानादि पदार्थोंका हमेशा वर्जन करते है—उन्हें कभी भी ग्रहण नहीं करते।

(४) आदान समिति

१७—धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं।
सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवाऽऽसणं॥

द० ८ : १७

साधको नित्य प्रति यथाकाल वस्त्र, पात्र, शय्या, वासस्थान, उच्चार भूमि, सस्तारक और आसन आदिकी सावधानी पूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिए।

१८—पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहिओ होइ॥

उत्त० २६ : ३०

प्रतिलेखनामे प्रमाद करनेवाला पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छओंका ही विराधक होता है।

१९—पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं।
पडिलेहणाआउत्तो छण्हं संरक्खओ होइ॥

उत्त० २६ : ३१

प्रतिलेखनामे जो प्रमादी नहीं होता वह साधु पृथ्वीकाय आदि छहोंका ही संरक्षक होता है।

२०—चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया॥

उत्त० २४ : १४

यतनावाल साधु आंखोंसे देखकर दोनों प्रकारकी उपधिका

प्रमार्जन करे तथा उपधिके उठाने और धरनेमें सदा समिति—चौकसी वाला हो।

२१—संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं।
अप्पमज्जियमारुहइ, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : ७

संस्तारक, फलक, पीठ, पादपुंछन और स्वाध्यायभूमि—इन पर जो विना प्रमार्जन किए बैठता है, वह पापी श्रमण कहा जाता है।

२२—पडिलेहेइ पमत्ते अवउज्झइ पायकम्बलं।
पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : ६

जो प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करता है, जो पात्र और कम्बल जहां तहां रख देता है—इस तरह प्रतिलेखनामें जिसका बिलकुल उपयोग नहीं वह पापी श्रमण कहलाता है।

(५) उत्सर्ग समिति

२३—उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं[1]॥
अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य॥
विच्छिण्णे दूरमोगाढे, नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे॥

उत्त० २४ : १५, १७, १८

१—मिलावें द० अ० ८ : १८

मल, मूत्र, खंखार, नासिका का मल, शरीरका मैल, आहार, उपधि, देह—शव तथा और इसी प्रकारके फेंकने योग्य अन्य पदार्थ जहां न कोई आता हो, न कोई देखता हो, दूसरे जीवोंकी घात न होती हो, जो समभूमि हो, जो तृण पत्रादिसे अनाच्छादित हो तथा कुछ कालसे अचित्त हो, जो स्थान विस्तृत हो, काफी नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादिके अति समीप न हो, मूषकादिके बिल तथा त्रस प्राणी और बीजोंसे रहित हो—ऐसे ही स्थानको प्रमार्जित कर वहां विसर्जित करने चाहिएँ।

(६) मन गुप्ति

२४—संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

उत्त० २४ : २१

यतनावाला यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भमें प्रवृत्त होते हुए मनको निवृत्त करे—हटावे।

(७) वचन गुप्ति

२५—संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

उत्त० २४ : २३

यतनावाला यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भमें प्रवृत्त होते हुए वचनको निवृत्त करे—हटावे।

(८) काय गुप्ति

२६—ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे , इन्दियाण य जुंजणे॥

संरम्भसमारम्भे , आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

उत्त० २४ : २४, २५

यतनावाला यति स्थानके विषयमें, बैठनेके विषयमें, शयनके विषयमें, उल्लघन प्रलंघनके विषयमें तथा इन्द्रियोंके प्रयोगमें कायाको संयममें रखे तथा संरम्भ, समारम्भ, और आरम्भमें प्रवृत्त होती हुई कायाको निवृत्त करे—हटावे।

२७—एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥

उत्त० २४ : २६

ये पांचों समितियां चरित्रकी प्रवृत्तिके विषयमें कही गई हैं और तीनों गुप्तियां सर्व प्रकारके अशुभ अर्थोंसे—मनोयोगादिसे निवृत्तिके विषयमें कही गई हैं।

२८—एयाओ पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए॥

उत्त० २४ : २७

जो मुनि इन प्रवचन माताओंका सम्यक् भावसे आचरण करता है, वह पण्डित सर्व संसारचक्रसे शीघ्र छुट जाता है।

४ : अखण्ड नियम

सखुड्डगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंडफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा॥

द० ६ : ६

जो गुण बालक, युवक एवं वृद्ध, स्वस्थ एवं अस्वस्थ सबको, अखंड रूपसे पालन करने चाहिएँ, उनका जैसा स्वरूप है, वह सुनो।

(१) छ कायके जीवोंकी हिंसाका वर्जन

१—पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया॥

द० ६ : २७, ३०, ४१, ४४

सुसमाधिवंत साधु मन, वचन और काया रूप तीन योगोंसे और कृत, कारित और अनुमोदना रूप तीन करणसे पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायकी हिंसा नहीं करते, दूसरोंसे नहीं करवाते और न करनेवालोंकी अनुमोदना करते हैं।

पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे॥

द० ६ : २८, ३१, ४२

पृथ्वीकायादि जीवोंकी हिंसा करता हुआ प्राणी उन प्रत्येकके

आश्रयमें रहे हुए चक्षुओं द्वारा दिखाई देनेवाले या नहीं दिखाई देनेवाले अनेक प्रकारके त्रस और स्थावर प्राणियोंकी हिंसा करता है ।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढविकाय समारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

द० ६ : २६, ३२, ३६, ४०, ४३, ४६

इसलिए दुर्गति रूप दोषको बढ़ानेवाली इन हिंसाओंको जानकर मुमुक्षु यावज्जीवनके लिए पृथ्वीकायादि जीवोंके समारम्भको टाले ।

२—पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिन्दे न संलिहे ।
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए[1] ॥

द० ८ : ४

सुसमाधिवंत संयमी, सचित्त पृथ्वी, भींत, शिला, या मिट्टीके ढेलेको तीन करण तीन योगसे न भेदे और न घिसे ।

सुद्ध पुढवीं न निसीए, ससरक्खम्मि य आसणे ।
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥

द० ८ : ५

शस्त्रसे अपरिणत—सचित्त पृथ्वी पर और सचित्त रजसे भरे हुए आसनादि पर मुनि न बैठे । अचित्त भूमि हो तो मुनि स्वामीकी आज्ञा लेकर रजोहरणसे पूंज कर बैठे ।

३—सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य ।
उसिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए[2] ॥

द० ८ : ६

१—इस गाथाके भावोंके विस्तारके लिए देखिए दस० अ० ४ : ७

२—इस गाथाके भावोंके विस्तारके लिए देखिए दस० अ० ४ : ८

साधु, नदी, कुएँ, तालाबादिके सचित्त जल, ओले, बरसातके जल और बर्फ—इन सबका सेवन न करे किन्तु तप्त प्रासुक उष्ण जलको ग्रहण करे।

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी[1] ॥ द० ८ : ७

अपना शरीर कदाचित् जलसे भीग जाय तो मुनि अपने शरीरको न पोंछे और न मले किन्तु अपनेको भीगा देख अपने शरीरका स्पर्श भी न करे।

४—जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥

द० ६ : ३३

साधु अग्निको सुलगानेकी कभी भी इच्छा नहीं करता। यह बड़ा ही पापकारी शस्त्र है। यह लोहके अस्त्रशस्त्रोंकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण है और सब ओरसे दहन करनेवाला है।

भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥

द० ६ : ३५

यह अग्नि प्राणियोंके लिए घात स्वरूप है—इसमें जरा भी सदेह नहीं। इसलिए संयमी मुनि प्रकाश व शीत निवारण आदिके लिए किंचित् मात्र भी अग्निका आरम्भ न करे।

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं।
न उंजिज्जा न घट्टिजा, नो णं निव्वावए मुणी ॥

द० ८ : ८

१—इस गाथाके भावोंके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ : ९

मुनि, अंगारको, अग्निको, ज्वालाको या ज्योति सहित अधजले काठको न जलावे, न संघट्टा करे और न बुझावे।

५—अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्ज बहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं॥

द० ६ : ३७

बुद्ध पुरुष वायुकायके समारम्भको अग्निके जैसा ही अत्यन्त पापकारी मानते हैं अत: छ: कायके रक्षक मुनि वायुकायका समारम्भ न करे।

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं[1]॥

द० ६ : ३८

छ: कायके त्रायी मुनि ताड़ वृक्षके पंखेसे, पत्तोंसे, अथवा शाखासे वह अन्य वस्तुको हिलाकर अपने शरीरको हवा पहुँचानेकी इच्छा नहीं करते और न दूसरेसे हवा करवाना चाहते हैं। मुनि अपने शरीर पर हवा न करे और न अन्य पदार्थों पर (गर्म दूधादिको ठंडा करनेके लिए) हवा करे।

६—तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सइ।
आमगं विविहं बीयं, मणसा वि न पत्थए[2]॥

द० ८ : १०

साधु, तृण-घास-वृक्षादि तथा किसी वृक्षादिके फल और मूलको न काटे तथा नाना प्रकारके सचित्त बीजोंके सेवनकी मनसे भी इच्छा न करे।

१—इस गाथाके भावके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ : १०
२—द० ८ : ९

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं, उत्तिंगपणगेसु वा[१] ॥

द० ८ : ११

वृक्षोंके कुंजमें एवं गहन वनमें, बीजों पर अथवा दूब आदि हरितकाय पर, तथा उदक पर, सर्पच्छत्रा पर तथा पनक एवं लीलन-फूलन पर साधु कभी भी खड़ा न रहे।

७—अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा[२] ॥

द० ८ : १३

संयमी मुनि आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोंको जाननेसे सर्व जीवोंके प्रति दया—अहिंसाका अधिकारी होता है। इन जीवोंको भलीभांति देख कर मुनि बैठे, खड़ा हो और सोवे।

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीयहरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

द० ८ : १५

स्नेह—ओस, वर्फ, धुंअर आदि; सूक्ष्म पुष्प; सूक्ष्म प्राणी; कीड़ी-नगरा; पनग—लीनफूलन; बीज; हरितकाय और सूक्ष्म अण्डे—ये आठ प्रकारके सूक्ष्म जीव हैं।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिय समाहिए ॥

द० ८ : १६

साधु इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोंको जानकर

२—इन गाथाओंके भावके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ : ११
१—इस गाथाके भावविस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ : १२

सर्व इन्द्रियोंका दमन करता हुआ एवं प्रमादरहित होकर हमेशा सर्व भावोंसे—तीन करण तीन योगसे—इनकी यतनामें सावधान रहे।

८—तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं॥

द० ८ : १२

मुनि, मन, वचन और कायासे त्रस प्राणियोंकी हिंसा न करे। वह सारे जगत्को—सर्व प्राणियोंको—आत्मवत् देखता हुआ सर्व भूतों की हिंसासे विरत हो।

९—इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुलहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि॥

द० ४ : २९

दुर्लभ श्रमणभावको प्राप्त करके समदृष्टि और सदा यत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले मुनि इन षट् जीव-निकायके जीवोंकी मन, वचन और काया से कभी भी विराधना न करे।

(२) गृहस्थके वर्तनोंका वर्जन :

१—कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ॥

द० ६ : ५१

जो मुनि गृहस्थ की कांसी आदिकी कटोरीमें, कांसी आदिकी थालीमें तथा मिट्टीके कुंडेमें, अशनपान आदिका भोजन करता है, वह अपने आचारसे सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है।

२—सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे।
जाइं छनंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥

द० ६ : ५२

गृहस्थ वर्तनोंको धोते हैं जिसमें सचित्त जलका आरम्भ होता है। वर्तनोंके धोनेके जलको यत्रतत्र गिरानेसे बहुतसे जीवोंकी हिंसा होती है। इससे गृहस्थके वर्तनोंमें भोजन करनेमें ज्ञानियोंने स्पष्टतः असंयम देखा है।

३—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे॥

द० ६ : ५३

गृहस्थके वर्तनमें भोजन करनेसे पश्चात्कर्म और पुरःकर्म दोष लगनेकी संभावना रहती है अतः साधुको यह नहीं कल्पता। इसलिए निर्ग्रंथ मुनि गृहस्थके भाजनोंमें भोजन नहीं करते।

(३) पलंगादिका वर्जन :

१—आसंदी पलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा॥
नासंदी पलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।
निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा॥

द० ६ : ५४, ५५

कुर्सी और पलंग अथवा खाट और आरामकुर्सी आदिपर बैठना अथवा सोना आर्यो—साधुओंके लिए अनाचार है अतः सर्वज्ञोके वचनों को माननेवाले निर्ग्रंथ, कुर्सी, पलंग, रूईकी गद्दीवाले आसन और पीढ़े पर न बैठे और न सोवे क्योंकि इनका प्रतिलेखन होना कठिन है।

२—गंभीर विजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदी पलिअंको य, एयमट्ठं विवज्जिया॥

द० ६ : ५६

कुर्सी, पलंग आदिमें उंडे छिद्र होते हैं अतः प्राणियोंकी प्रति-

लेखना होना कठिन है। अतः मुनियोंको ये सब विवर्जित हैं।

(४) गृहस्थके घरमें बैठनेका वर्जन :

१—विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं॥

द० ६ : ५८

गृहस्थके घर बैठनेसे साधुके ब्रह्मचर्यके नाश होनेकी तथा प्राणियों के वध होनेसे सयमके दूषित होनेकी सम्भावना रहती है। कोई भिखारी भिक्षाके लिए आवे तो उसकी भिक्षामें अन्तराय होनेकी संभावना होती है तथा गृहस्थ भी क्रुद्ध हो सकता है।

२—अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए॥

द० ६ : ५९

गृहस्थके घर बैठनेसे साधुके ब्रह्मचर्यकी रक्षा नहीं हो सकती। स्त्रियोंके विशेष ससर्गसे ब्रह्मचर्य व्रतमें शका उत्पन्न हो सकती है। अतः कुशीलकी वृद्धि करनेवाले इस स्थानको साधु दूरसे ही विवर्जित करे।

(५) स्नानका वर्जन

१—वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संयमो॥

द० ६ : ६१

चाहे रागी हो अथवा निरोगी, जो साधु स्नान करनेकी इच्छा करता है वह निश्चय ही आचारसे भ्रष्ट हो जाता है और उसका संयम मलीन हो जाता है।

२—संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु य।
जे य भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पलावए॥

द० ६ : ६२

खारवाली पोली भूमि और फटी हुई दरारोंवाली भूमिमें सूक्ष्म प्राणी होते हैं। साधु यदि विकृत—प्रासुक जलसे भी स्नान करे तो भी उन सूक्ष्म जीवोंके उत्प्लावनसे—जलकी धारमें बह जानेसे हिंसा हुए बिना नहीं रहेगी।

३—तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा॥

द० ६ : ६३

अतः शुद्ध संयमका पालन करनेवाले साधु ठंडे जलसे अथवा गरम जलसे कभी भी स्नान नहीं करते और जीवन पर्यन्त अस्नान नामक अति कठिन व्रतका पालन करते हैं।

(६) विभूषाका वर्जन

१—सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि॥

द० ६ : ६४

संयमी पुरुष, चन्दन लोध्र, कुंकुम, केसर आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीरके उबटनके लिए कदापि सेवन नहीं करते और न स्नान करते हैं।

२—विभूसा वत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे॥

द० ६ : ६६

विभूषाप्रिय साधुको चीकने कर्मोंका बंधन होता है, जिससे वह

इस दुस्तर घोर संसार-सागरमें गिरता हैं।

३—विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥

द० ६ : ६७

ज्ञानी पुरुष शरीरकी विभूषा चाहनेवाले मनको चीकने कर्मबंधका कारण और बहुत पापोंकी उत्पत्तिका हेतु मानते हैं इसलिए छः कायके जीवोंके त्राता मुनियोंको शरीर विभूषाका सेवन नहीं करना चाहिए।

(६) मद्यपानका वर्जन

१—सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ॥

द० ५।२ : ३६

अपने संयमरूपी निर्मल यशकी रक्षा करनेवाला भिक्षु, आत्म-साक्षीपूर्वक सुरा, मदिरा तथा मद उत्पन्न करनेवाले अन्य किसी भी रसको न पीवे।

२—पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे ॥

द० ५।२ : ३७

मुझे कोई भी नहीं देखता है—ऐसा मानकर जो भगवान्की आज्ञाका लोप करनेवाला चोर साधु एकान्त स्थानमें—लुक छिपकर मदिरा पीता है, उसके दोषोंको देखो और मैं उसके मायाचारका वर्णन करता हूँ सो सुनो।

३—वड्ढई सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥

द० ५।२ : ३८

मदिरा पान करनेवाले साधुके आसक्ति, माया, झूठ, अपयश और अतृप्ति आदि दोष बढ़ते ही रहते हैं। उसकी असाधुता सतत् बढ़ती रहती है।

४—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्त कम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं॥

द० ५।२ : ३६

जैसे चोर अपने कुकर्मोसे नित्य उद्विग्न रहता है, उसी तरह मद्य पीनेवाला दुर्बुद्धि साधु सदा व्याकुल रहता है। ऐसा साधु मरणांतके समय भी संवर—चारित्रकी आराधना नहीं कर सकता।

५—आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्था वि णं गरिहंति, जेग जाणंति तारिसं॥

द० ५।२ : ४०

विचार मूढ़ मदिरा पीनेवाला साधु न तो आचार्योंकी आराधना कर सकता है और न साधुओंकी। जब गृहस्थ लोग मदिरापानके दुर्गुणको जान लेते हैं तो वे भी उसकी निंदा करते हैं।

६—तवं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो॥

द० ५।२ : ४२

मेधावी साधु स्निग्ध रसोंको छोड़कर तप करता है। वह मद्य-पान और प्रमादसे विरत निराभिमानी तपस्वी होता है।

५ : अनगार

१—मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसाऽवि न पत्थए॥

उत्त० ३५ : ४

अनगार, मनोहर, माल्य और धूप द्वारा वासित, कपाट सहित, उज्ज्वल चंदवेवाले तथा चित्रवाले घरकी मनसे भी इच्छा न करे।

२—इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे॥

उत्त० ३५ : ५

क्योंकि वैसे कामरागकी वृद्धि करनेवाले उपाश्रयमें बसनेसे साधु के लिए विषयकी ओर जाती हुई इन्द्रियोंका निवारण करना दुष्कर हो जाता है।

३—सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले वा एगगो।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए॥

उत्त० ३५ : ६

अनगार, स्मशानमें, शून्य घरमें, वृक्षके नीचे अथवा (गृहस्थने निजके लिए बनाया हो, ऐसे) परकृत एकान्त स्थानमें अकेला निवास करना पसन्द करे।

४—फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणुभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥

उत्त० ३५ : ७

परम संयमी अनगार, प्रासुक, किसीको पीड़ा न हो ऐसे स्त्रियों द्वारा अनुपद्रवित उपरोक्त श्मशानादि स्थानोंमें वास करे।

५—न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, नेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारंभे , भूयाणं दिस्सए वहो ॥

उत्त० ३५ : ८

अनगार स्वयं गृहादि न बनावे, दूसरोंसे गृहादि न बनवावे और गृहादि बनाते हुएका अनुमोदन न करे। गृहकार्यके समारम्भमे अनेक प्राणियोंका बध प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

६—तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य।
गिहकम्मसमारंभं , संजओ परिवज्जए ॥

उत्त० ३५ :९

गृहादि बनानेमें त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर जीवोंका वध होता है इससे संयमी अनगार गृहकार्य समारम्भका परिवर्जन करे।

६ : विनय-समाधि

१—सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पन्नं सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपन्नेसी धिइमन्ता जिइन्दिया ॥

सू० १, ६ : ३३

मुमुक्ष पुरुष, प्रज्ञावान, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्माज्ञानी, धृतिमान और जितेन्द्रिय गुरुकी शुश्रूषापूर्वक उपासना—सेवा करे।

२—जहाहियग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंतनाणोवगओऽवि संतो ॥

द० ६ । १ : ११,

अग्निहोत्री ब्राह्मण जिस तरह नाना प्रकारकी आहुतियों और मंत्रों से अभिषिक्त अग्निको नमस्कार करता है उसी तरह अनन्त ज्ञानी होने पर भी शिष्य गुरुकी विनय पूर्वक सेवा करे।

३—जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥

द० ६ । १ : १२

जिसके पास धर्म-पद सीखे हों उसके प्रति विनय भाव रखना चाहिए तथा हमेशा सिर नमा, हाथ जोड़, मन-वचन कायासे उसका सत्कार करना चाहिए।

४—मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए[1]॥

उत्त० १ : ४३

आचार्यके मन, वचन (और काया) गत भावोंको समझ कर, वचन द्वारा उन्हें स्वीकार कर शरीर द्वारा उन्हें पूरा करना चाहिए।

५—वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया॥

उत्त० १ : ४४

विनयशील शिष्य बिना प्रेरणा किया हुआ नित्य प्रेरणा किए हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी होता है और गुरुके उपदेशके अनुसार ही सदा कार्योंको अच्छी तरह करता है।

६—मा गलियस्सु व कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए॥

उत्त० १ : १२

जैसे दुष्ट घोड़ा बार बार चाबुककी अपेक्षा रखता है वैसे विनीत शिष्य बार बार अनुशासनकी अपेक्षा न रखे। जैसे विनीत घोडा चाबुकको देखकर ही सुमार्ग पर आ जाता है, उसी प्रकार विनयवान शिष्य गुरुजनोंकी दृष्टि आदिको देखकर ही दुष्ट मार्गको छोड़ दे।

७—आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइवि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे[2]॥

उत्त० १ : २१

गुरु एक बार बुलावे अथवा बार बार शिष्य कदाचित् भी बैठा

१—मिलावे द० ८ : ३३ २—द० ९।२ : २०

न रहे किन्तु धीर शिष्य आसन छोड़कर यत्नके साथ गुरुके बचन को सुने।

८—आयरिएहिं वाहितो, तुसिणीओ न कयाइवि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया॥

उत्त० १ : २०;

आचार्योंके द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मौनका अवलम्बन न करे किन्तु गुरु कृपा और मोक्षकी अभिलाषा वाला शिष्य सदा उनके समीप ही रहे।

९—आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो॥

उत्त० १ : २२

आसन पर बैठा हुआ कदाचित् भी न पूछे तथा शय्या पर बैठा हुआ भी कभी न पूछे। समीप आ, उत्कटुक आसनमें हो बद्धांजलि पूर्वक जो पूछना हो सो पूछे।

१०—न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे[1]॥

उत्त० १ : १८

आचार्यके बराबर न बैठे, आगे न बैठे, उनकी ओर पीठ करके न बैठे, उनके गोड़के साथ गोड़ा जोड़ कर न बैठे और शय्यामें पड़ा पड़ा ही उनके वचनको न सुने।

११—नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए॥

उत्त० १ : १९

१—मिलावें द० ८ : ४६

विनीत शिष्य गुरुके समीप पल्हाथी मारकर न बैठे, अपनी दोनों भुजाओंको जांघों पर रखकर न बैठे, उनके सामने पांव पसारकर न बैठे तथा और भी अविनय सूचक आसनादिसे गुरुके निकट न बैठे।

१२—आसणे उवचिट्ठिज्जा, अणुच्चे अक्कुए थिरे।
अप्पुट्ठाइ निरुट्ठाइ, निसीएज्जप्पकुक्कुए॥

उत्त० १ : ३०

शिष्य चांचल्यरहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरुसे ऊँचा न हो, स्थिर हो, शब्द न करता हो और उक्त प्रकारके आसन पर बैठा भी बिना प्रयोजन न उठे तथा प्रयोजन होने पर भी थोड़ा उठे।

१३—हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी॥

द० ८ : ४५

जितेन्द्रिय मुनि गुरुके समक्ष हाथ, पांव और शरीरको वशमें रख, एकाग्र भावसे बैठे।

१४—नीयं सिज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदिज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं॥

द० ६ : २ : १७

विनयी शिष्य अपने शय्या, स्थान और आसन गुरुसे नीचा रखे। चलते समय गुरुसे पीछे धीमी चालसे चले। नीचा झुककर पैरोंमें वंदना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे।

१५—ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं॥

उत्त० १ : १४

बिना बोलाये थोड़ा सा भी न बोले, और बोलाने पर झूठ कभी

न बोले, क्रोधको निष्फल बना देवे तथा प्रिय अप्रिय वचनोंको सम-भावसे ग्रहण करे।

१६—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥
उत्त० १ : २५

अपने स्वार्थके लिए अथवा दूसरोंके लिए अथवा दोनोंमेंसे किसीके भी लिए पूछा जानेपर सावद्य वचन न बोले। न निरर्थक और न मर्मभेदी वचन ही कहे।

१७—मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जिता, तओ झाइज्ज एगगो॥
उत्त० १ : १०

शिष्य क्रोधावेशमें न बोले, झूठ न बोले, न बहुत बोले। कालके नियमसे अध्ययनकर बादमें एकान्तमें स्वाध्याय—चिन्तन करे।

१८—विणयं पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जन्तिं, दण्डेण पडिसेहए॥
द० ९।२ : ४

विविधि उपायोंसे मधुरता पूर्वक हित शिक्षा देनेपर भी जो मूर्ख मनुष्य कुपित हो जाता है वह घर आती हुई दिव्य लक्ष्मीको मानो दण्डोंकी मारसे भगता है।

१९—अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो॥
उत्त० १ : २८

गुरुजनोंका पापको दूर करनेवाला, उपाययुक्त—आत्माके लिए हितरूप—अनुशासन बुद्धिमान् शिष्यको हित कारक लगता है परन्तु

असाधु पुरुषको वही अनुशासन द्वेषका हेतु बन जता है।

२०—हियं विगयभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खन्तिसोहिकरं पयं॥

उत्त० १ : २९

निर्भय बुद्धिमान् शिष्य कठोर अनुशासनको भी अपने लिए हितकर मानते हैं परन्तु मूर्ख जनोंके लिए शान्ति और आत्मशुद्धिको प्राप्त करानेवाले वे ही पद—हितवाक्य—द्वेषके कारण हो जाते हैं।

२१—जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे॥

उत्त० १ : २७

ये जो बुद्ध पुरुष मुझे कोमल अथवा कठोर वाक्योसे अनुशासित करते हैं—यह मेरे लाभके लिए ही है—इस प्रकारसे विचार करता हुआ मुमुक्ष पुरुष प्रयत्न पूर्वक उनकी शिक्षाको ग्रहण करे।

२२—आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य॥

उत्त० १ : ११

कदाचित् कोपके वशीभूत होकर अकृत्य किया गया हो तो उसे कभी भी न छिपावे किन्तु किया हो तो कह दे कि मैंने किया है और यदि न किया हो तो कह दे कि मैंने नहीं किया

२३—पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइवि॥

उत्त० १ : १७

वचनसे या कायसे प्रगटमें या गुप्तमें ज्ञानी पुरुषोंके प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी न करे।

२४—न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए॥

उत्त० १ : ४०

आचार्य पर क्रोध न करे, न अपनी आत्मा पर भी क्रोध लावे। ज्ञानी पुरुषोंकी घात करनेवाला न हो और न केवल छिद्र देखनेवाला ही हो।

२५—आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पञ्जलिउडो, वएज्ज न पुण त्ति य॥

उत्त० १ : ४१

आचार्यको कुपित हुआ जानकर प्रतीतिकारक वचनोंसे उन्हें प्रसन्न कर उनकी क्रोधाग्निको शान्त करे और दोनों हाथ जोड़ कर कहे कि मैं फिर आगेको ऐसा कभी न करूंगा।

२६—विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ॥

द० ९ । २ : २१

अविनीतको विपत्ति प्राप्त होती है, और सुविनीत को सम्पत्ति—ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

२७—जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा॥

द० ९ । २ : १२

जो शिष्य आचार्य और उपाध्यायोंकी सेवा करता और उनकी आज्ञा अनुसार चलता है उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस जिस प्रकार जलसे सींचा हुआ वृक्ष।

२८—नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥
उत्त० १ : ४५

विनयके रूपको जानकर जो पुरुष नम्र हो जाता है वह इस लोकमें कीर्ति प्राप्त करता है। जिस तरह पृथ्वी वनस्पति आदि भूतोंकी शरण स्थान होती है उसी प्रकार वह सर्व सत्कार्यों—गुणोंका शरणभूत—आश्रय स्थान—बन जाता है।

२९—थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥
द० ९। १ : १

गर्व, क्रोध, माया और प्रमादके कारण जो गुरुके पास रहकर विनय नहीं सीखता, उसकी यह कमी उसीका पतन करती है, जिस तरह कि बांसका फल उसीके नाशके लिए होता है।

३०—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ य से पुप्फ फलं रसो य ॥
द० ९। २ : १

वृक्षके मूलसे सबसे पहले स्कंध पैदा होता है। स्कन्धके बाद शाखाएँ और शाखाओंसे दूसरी छोटी छोटी शाखाएँ निकलती है। उनसे पत्ते निकलते हैं। इसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

३१—एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥
द० ९। २ : २

इसी तरह धर्मका मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनयके द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्र ज्ञान तथा कीर्त्ति संपादन करता है। अन्तमें निश्रेयस् (मोक्ष) भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है।

७ : भिक्षा और भोजनके नियम

१—तहेव भत्तपाणेसु, पयणपयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए॥
उत्त० ३५ : १०

भात-पानीके रांधने रंधानेमें जीववध प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अतः प्राणियों और भूतोंकी दयाके लिए अनगार न स्वयं रांधे और न रंधावे।

२—जलधन्ननिस्सिआ पाणा, पुढविकट्ठनिस्सिआ।
हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए॥
उत्त० ३५ : ११

भात-पानी रांधनेके समय जल और धान्यके आश्रयमें रहे हुए तथा पृथ्वी और ईंधनकी निश्रायमें रहे हुए जीवोंका हनन होता है। अतः भिक्षु भात-पानी न रांधे, (न रंधावे और न रांधनेकी अनुमोदना करे।)

३—भिक्खिअव्वं न केअव्व, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा॥
उत्त० ३५ : १५

भिक्षा वृत्तिवाले भिक्षुको भिक्षा करनी चाहिए। उसे आहारादि

खरीदना नहीं चाहिये । क्योंकि क्रय-विक्रयमें महान् दोष है और भिक्षा वृत्ति सुखावह है ।

४—सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।
अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवत्ति अहियासए ॥
द० ५ । २ : ६

भिक्षु भिक्षाका काल होने पर गोचरीके लिए जाय और यथोचित पुरुषार्थ करे । यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे किन्तु सहज ही तप होगा—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परिषहको सहन करे ।

५—समुआणं उञ्छमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदिअं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥
उत्त० ३५ : १६

मुनि सूत्रके नियमानुसार निर्दोष, भिन्न भिन्न घरसे थोड़ी थोड़ी और सामुदानिक भिक्षाकी गवेषणा करे और लाभालाभमें सतुष्ट रहता हुआ पिंडचर्या करे ।

६—कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जिता, काले कालं समायरे ॥
उत्त० १ : ३१, द० ५ । १ : ४

साधु समय पर भिक्षादिके लिए जावे और समय पर वापिस आ जाय । अकालको टालकर नियत कालपर कार्य करे ।

७—संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥
द० ५ । १ : १

भिक्षाका काल होने पर साधु उद्वेग रहित और आहारादिमें मूर्च्छित न होता हुआ इस आगे बताई जानेवाली विधिसे आहार पानी

की गवेषणा करे ।

८—एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ॥
उत्त० ६ : १७

एषणा समितिसे युक्त संयमशील साधु अनियत रूपसे ग्राममें फिरे और प्रमाद रहित रह प्रमत्तोंसे—गृहस्थोंसे—पिण्डपात—आहारादि की गवेषणा करे ।

६—से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥
द० ५ । १ : २

गांवमें अथवा नगरमें गोचरीके लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित, शान्त चित्त और मंदगतिसे चले ।

१०—पुरओ जुगमायाए, मेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो बीय हरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥
द० ५ । १ : ३

मुनि सामने धूसर—चार हाथ—प्रमाण पृथ्वीको देखता हुआ तथा बीज, हरी वनस्पति, प्राणी, सचित्त जल तथा मिट्टीको टालता हुआ चले ।

११—न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए ।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥
द० ५ । १ : ८

वर्षा वर्ष रही हो, धूंअर गिर रहा हो, आंधी चल रही हो या पतंगिया आदि—अनेक प्रकारके जीव उड़ रहे हों उस समय साधु बाहर न जावे ।

१२—अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामणम्मि य संसओ॥
द० ५।१:१०

वेश्याओंके मोहल्लेमें गोचरीके लिए जानेवाले साधुके उनसे बार-बार संसर्ग होता है जिससे महाव्रतोंको पीड़ा होती है और लोग उसके साधुपनमें संदेह करने लगते हैं।

१३—तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेस सामंतं, मुणी एगंतमस्सिए॥
द० ५।१:११

इसलिए दुर्गतिको बढ़ानेवाले इन उपरोक्त दोषोंको जानकर एकात मोक्षकी कामनावाला मुनि वेश्याओके मोहल्लेका वर्जन करे—उसे टाले।

१४—अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे।
द० ५।१:१३

मुनि न ऊपरकी ओर और न नीचेकी ओर ताकता हुआ चले। वह न हर्षित न व्याकुल इन्द्रियोंको यथाक्रमसे दमन करता हुआ चले।

१५—दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हंसतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया॥
द० ५।१:१४

गोचरीके लिए साधु दड़बड़ दड़बड़—दौड़ता हुआ—न जावे और हंसता हुआ तथा बोलता हुआ जावे किन्तु हमेशा ऊंच नीच कुलमें ईर्यासमिति पूर्वक गोचरी जावे।

१६—समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए॥

द० ५।२:२७

भिक्षु सदा ऊंच और नीच—धनी और गरीब—कुलोंमें सामुदानिक रूपसे भिक्षाके लिए जावे। नीच—गरीब—कुलको लांघकर धनवानके घर पर न जावे।

१७—पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं॥

द० ५।१:१४

साधु शास्त्रनिषिद्ध कुलमे गोचरीके लिए न जावे, स्वामीने नाकर दी हो उस घरमें न जावे तथा प्रतीतिरहित कुलमे प्रवेश न करे। वह प्रतीतिवाले घरमें जावे।

१८—अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणंमि, मायण्णे एसणारए॥

द० ५।२:२८

आहार पानीकी मात्राको जाननेवाला और आहारकी शुद्धिमें तत्पर पंडित साधु भोजनमे गृद्धिभाव न रखता हुआ अदीनभावसे आहार आदिकी गवेषणा करे। यदि आहारादि न मिले तो खेद न करे।

१६—असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विनिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो॥

द० ५।१:२३

गोचरीके लिए गया हुआ साधु किसीकी तरफ आसक्तिसे न देखे, दूर तक लम्बी दृष्टि डालकर न देखे, आंखे फाड़ फाड़कर न देखे।

यदि भिक्षा न मिले तो बडबड़ाहट न करता हुआ वापिस लौट आवे।

२०—नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खु फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे॥

उ० १ : ३३

यदि गृहस्थके घरमें पहलेसे ही कोई भिक्षु भिक्षाके लिए खड़ा हो तो साधु वहांसे हटकर न अति दूर न अति नजदीक एकान्तमें खड़ा रहे जहां दूसरोंका दृष्टि स्पर्श न हो। वह भिक्षाके लिए उपस्थित मनुष्यको उल्लंघन कर उससे पहले घरमें प्रवेश न करे।

२१—अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे॥

द० ५।१ : २४

गोचरीके लिए गया हुआ मुनि गृहस्थकी मर्यादित भूमिसे आगे न जाय किन्तु कुलकी भूमिको जानकर परिमित भूमिमें ही रहे।

२२—दगमट्टिय आयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए॥

द० ५।१ : २६

सर्व इन्द्रियोंको वशमें रखता हुआ समाधिवंत मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी युक्त जगहको, बीजोंको और हरितकायको टालकर यतनापूर्वक खड़ा रहे।

२३—पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे, न य रूवेसु मणं करे॥

द० ८ : १९

पानीके लिए अथवा भोजनके लिए गृहस्थके घरमें प्रवेश करके साधु यत्नापूर्वक खड़ा रहे, थोड़ा बोले, स्त्रियोंके रूपमें मनको न लगावे।

२४—तत्थसे चिट्ठमाणस्स, आहरेपाणभोयणं।
अकप्पियं न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं॥
द० ५।१ : २७

वहां मर्यादित भूमिमें खड़े हुए साधुको गृहस्थ आहार पानी देवे और वह कल्पनीय हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकल्पनीय हो तो ग्रहण न करे।

२५—नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए॥
उत्त० १ : ३४

गृहस्थके घरमें जाकर संयमी न अति ऊंचेसे, न अति नीचेसे, न अति समीपसे और न अति दूरसे प्रासुक—अचित्त और परकृत—दूसरोंके निमित बने हुए पिण्ड—आहारको ग्रहण करे।

२६—जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥
एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया॥
द० १ : २, ३

जिस प्रकार भ्रमर वृक्षके फूलोंसे रस पीता हुआ भी उन्हें पीड़ित नहीं करता और अपनी आत्माको संतुष्ट कर लेता है, उसी प्रकार लोकमें जो मुक्त—परिग्रह रहित—श्रमण—साधु है वे दाता द्वारा दिए हुए दान, आहार और एषणामें उतने ही रत होते है जितना कि भ्रमर पुष्पों में।

२७—अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए॥
द० ८ : २९

साधु तिनहिनाहट न करनेवाला, चपलता रहित, अल्पभाषी, परिमित आहार करनेवाला और उदरका दमन करनेवाला हो। तथा थोड़ा आहार मिलने पर क्रोधित न हो।

२८—बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमं साइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा॥

द० ५।२ : २६

गृहस्थके घरमें खाद्य स्वाद्य अनेक प्रकारके बहुतसे पदार्थ होते है। यदि गृहस्थ साधुको न दे तो बुद्धिमान साधु उस पर कोप न करे पर विचार करे कि वह गृहस्थ है उसकी इच्छा है वह दे या नहीं।

२६—दुण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए॥

द० ५।१ : ३७

गृहस्थके घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उनमेसे यदि एक व्यक्ति निमत्रण करे तो साधु लेनेकी इच्छा न करे। दूसरेके अभिप्रायको देखे।

३०—गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए॥

गर्भवती स्त्रीके लिए बनाए हुए विविध आहार पानीको यदि वह खा रही हो तो साधु उन्हें न लें किन्तु यदि उसके खा चुकनेके उपरांत कुछ बचा हो तो साधू उसे ग्रहण करे।

३१—सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

द० ५ । १ : ३६-४१

यदि कदाचित् आसन्न प्रसवा गर्भवती स्त्री खड़ी हो और साधुको आहारादि देनेके लिये बैठे अथवा पहले बैठी हो और फिर खड़ी हो तो वह आहार पानी साधुके लिए अकल्पनीय होता है। अतः देनेवाली बाईसे कहे इस प्रकार लेना मुझे नहीं कल्पता।

३२—थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं॥

द० ५ । १ : ४२, ४३

बालकको अथवा बालिकाको स्तन पान कराती हुई बाई रोते हुए बच्चेको अलग कर आहार पानी देवे तो वह आहार पानी साधुके लिए अकल्पनीय होता है। अतः उस देनेवाली बाईसे साधु कहे इस तरहका आहार मुझे नहीं कल्पता है।

३३—असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्जा सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

द० । ५ । १ : ४७, ५४

जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्यके विषयमे साधु इस प्रकार जान ले अथवा सुन ले कि यह दानके लिए, पुण्यके लिए, याचकोंके लिए तथा श्रमणों—भिक्षुओंके लिए बनाया गया है तो वह भक्तपान

साधुके लिए अकल्पनीय होता है। अतः साधु दातासे कहे इस प्रकारका आहारादि मुझे नहीं कल्पता।

३४—कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए॥

द० ५।१:७०

कच्चा कंद—जमीकन्द, मूल, तालफल अथवा काटी हुई भी सचित्त वथुए आदि पत्तोंकी भाजी, घीया और अदरख आदि सब प्रकार की सचित्त वनस्पति—जिसे अग्निका शस्त्र न लगा हो उसे साधु न ले।

३५—न य भोयणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुयं न भुंजिज्जा, कीयमुद्देसियाहडं॥

द० ८:२३

भोजनमें गृद्ध न होकर साधु गरीब धनवान् सब दाताओंके घरमें भिक्षाके लिए जाय। संतुष्ट रहकर दाताकी निंदा न करे। अप्रासुक, साधुके लिए क्रीत—खरीदा हुआ, औदेशिक—साधुके लिए बनाया हुआ तथा आहृत—साधुके लिए सामने लाया हुआ आहार ग्रहण न करे। यदि कदाचित् भूलसे ग्रहण कर लिया हो तो उसे न भोगे।

३६—बहुं सुणेइ कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छई।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥

द० ८:२०

साधु कानोंसे बहुत बातें सुनता है, आंखोंसे बहुत बातें देखता है। परन्तु देखी हुई, सुनी हुई सारी बातें किसीसे कहना साधुको उचित नहीं है।

३७—निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥
द० ८ : २२

किसीके पूछने पर अथवा बिना पूछे, साधु सरस आहार मिला हो तो आहार अच्छा मिला है इस प्रकार न कहे, नीरस आहार मिला हो तो आहार बुरा मिला है ऐसा न कहे। वह लाभालाभकी चर्चा न करे।

३८—विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥
द० ५।१ : ८८

भिक्षासे वापिस आने पर मुनि विनयपूर्वक अपने स्थानमें प्रवेश करे और गुरुके पास आकर ईर्यावही का पाठ पढ़कर प्रतिक्रमण करे।

३९—आभोइत्ताण निसेसं, अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे य संजए ॥
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवं ॥
द० ५।१ : ८९, ९०।

आने-जानेमें और आहारादि ग्रहण करनेमें लगे हुए सब अतिचारों को तथा जो आहार-पानी जिसप्रकारसे ग्रहण किया हो उसे यथाक्रमसे उपयोगपूर्वक याद कर वह सरल बुद्धिवाला मुनि उद्वेग रहित एकाग्र चित्तसे गुरुके पास आलोचना करे।

४०—अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥
द० ५।१ : ९२

कायोत्सर्गमें स्थित मुनि इस प्रकार विचार करे कि अहो ! जिनेश्वर देवोंने मोक्ष-प्राप्तिके साधनभूत साधुके शरीरको धारण करनेके लिए कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है।

४१—णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी॥

द० ५।१:६३

मुनि 'णमो अरिहंताणं' पाठका उच्चारण कर, कायोत्सर्गको पार, जिन स्तुति करके स्वाध्याय करता हुआ कुछ समयके लिए विश्राम करे।

४२—वीसमंतो इमे चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ॥

द० ५।१।६४

निर्जरारूपी लाभका इच्छुक साधु विश्राम करता हुआ अपने कल्याणके लिए इस प्रकार चिंतन करे कि यदि कोई साधु मुझ पर अनुग्रह करे—मेरे आहारमें से कुछ आहार ग्रहण करे तो मैं इस संसार-समुद्रसे पार हो जाऊं।

४३—साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए॥

द० ५।१:६५

इस प्रकार विचार कर मुनि सब साधुओंको प्रीतिपूर्वक यथ क्रमसे निमत्रण करे। यदि उनमेंसे कोई साधु आहार करना चाहे तो उनके साथ आहार करे।

४४—अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं॥

द० ५।१:६६

इस प्रकार निमन्त्रण करने पर यदि कोई साधु आहार लेना न चाहे तो फिर वह साधु अकेला ही चौड़े मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्रमें नीचे नहीं गिराता हुआ यतनापूर्वक आहार करे।

४५—तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एयलद्धमन्नट्ठपउत्तं , महुघयं व भुंजिज्ज संजए॥

द० ५।१ : ६७

गृहस्थके द्वारा अपने लिए बनाया हुआ तथा शास्त्रोक्त विधिसे मिला हुआ वह आहारादि तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा, मीठा या नमकीन चाहे जैसा भी हो साधु उस आहारको घी शक्करकी तरह प्रसन्नता पूर्वक खावे।

४६—अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥

उत्त० ३५ : १७

लोलुपता रहित, रसमें गृद्धि रहित, जिह्वा-इन्द्रियको दमन करने वाला और आहारके संग्रहकी मूर्च्छासे रहित महा मुनि रसके लिए—स्वादके लिए—आहार न करे परन्तु संयमके निर्वाहके लिए ही आहार करे।

४७—अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु कुम्मास भोयणं॥
उप्पण्णं नाइ हीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जियं॥

द० ५।१ : ९८, ९९

शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त हुआ आहार चाहे रस रहित हो या विरस, बघार—छौंक दिया हुआ हो अथवा बघार रहित, गीला हो अथवा

सूखा, मंथुका आहार हो या उड़दके बाकलोंका, सरस आहार अल्प हो अथवा नीरस आहार बहुत हो, चाहे जैसा भी आहार हो साधु उसकी निन्दा न करे। वह निःस्पृहभावसे केवल संयम-यात्राके निर्वाहके लिए दाता द्वारा निःस्वार्थ भावसे दिए हुए प्रासुक आहारका दोष टाल कर भोजन करे।

४८—सुकडि त्ति सुपक्कि त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥

उत्त० १ : ३६

मुनि भोजन करते समय ऐसे सावद्य वचन न कहे कि यह अच्छा किया हुआ है, अच्छा पकाया हुआ है, अच्छा काटा हुआ है, इसका कड़वापन अच्छी तरह दूर किया हुआ—मारा हुआ—है, यह अच्छे मसालोंसे बना हुआ है या मनोहर है।

४९—पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥

द० ५।२:१

साधु पात्रमें लगे हुए लेपमात्रको भी—चाहे वह दुर्गंधयुक्त हो अथवा सुगंधयुक्त—अंगुलीसे पोंछकर सब खा जाय और कुछ न छोड़े।

५०—दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥

द० ५।१:१००

मुधादायी निश्चय ही दुर्लभ हैं और इसी तरह मुधाजीवी भी दुर्लभ हैं। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों ही सुगतिको जाते हैं।

८ : गली गर्दभ

१—वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तइ।
जोए य वहमाणस्स, संसारे अइवत्तइ॥

वाहनमें जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को चलाता हुआ पुरुष अरण्यको सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग—संयम—यानमें जोड़े हुए सुशिष्योंको चलाता हुआ आचार्य इस संसारको सुखपूर्वक पार करता है।

२—खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सइ।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जइ॥

जो वाहनमें दुष्ट वृषभोंको जोतता है, वह उनको मारते-मारते क्लेश को प्राप्त होता है। वह असमाधिका अनुभव करता है। उसका तोत्रक—चाबुक तक टूट जाता है।

३—एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ॥

वह एक की पूंछमें दंश देता है और दूसरे को बार-बार आरेसे बींधता है। (तो भी) एक जुएको तोड़ डालता है तो दूसरा उन्मार्ग की ओर दौड़ने लगता है।

४—एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जइ।
उक्कुदइ उप्फिडइ, सढे बालगवी वए॥

एक, एक बगल से जीमन पर गिर पड़ता है, बैठ जाता है, सो जाता है तो दूसरा शठ कूदता है, उछलता है और तरुण गायके पीछे दौड़ता है।

५—माई मुद्धेण पडइ, कुद्धे गच्छइ पडिपहं।
मयलक्खेण चिट्ठाइ, वेगेण य पहावइ॥

एक वृषभ माया कर मस्तक से गिर पड़ता है, तो दूसरा क्रोध-युक्त होकर उल्टा चलता है, एक मृतक की तरह पड़ जाता है तो दूसरा जोरसे दौड़ने लगता है।

६—छिन्नाले छिन्नई सल्लिं, दुद्दन्ते भञ्जई जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायइ॥

छिन्नाल वृषभ राशको छेदन कर देता है, दुर्दान्त जुए को तोड़ डालता है और सूं सूं कर वाहन को उजड़में ले भागता है।

७—खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइदुब्बला॥
उत्त० २७ : २-८

यानमें दुष्ट वृषभों को जोतने पर जो हाल होता है वही हाल धर्मयानमें दुःशिष्यों को जोड़नेसे होता है[1]। दुर्बल धृतिवाले शिष्य दुष्ट वृषभ की तरह धर्मच्युत होने की चेष्टा करते हैं।

८—अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयइ॥

१—इस उपमाके विस्तारके लिए देखिये—उत० अ०२७ : ९-१४

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं, दढं पगिण्हई तवं॥

उत्त० २७ : १५-१६

उन दुष्ट वृषभों द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथी जैसे सोचता है कि इन दुष्ट वृषभोंसे मुझे क्या प्रयोजन जिनके संसर्गसे मेरी आत्मा अवसाद—खेदको प्राप्त होती है उसी तरह धर्माचार्य सोचते है—जैसे गलि गर्दभ होते हैं वैसे ही ये मेरे दुर्बल दुष्ट शिष्य हैं। इनको छोड़ कर मैं तपको ग्रहण करता हूं।

६—रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए॥

उत्त० १ : ३७

पण्डितों को शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है जिस प्रकार भद्र घोड़ेका शासन करनेवाला वाहक—चाबुक सवार। मूर्ख शिष्योंको शिक्षा करता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है जिस प्रकार अडियल घोड़ेका वाहक—चाबुक सवार।

९ : समभाव

१—ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

शब्द श्रोतेन्द्रियका विषय है। कानमें पड़े हुए शब्दों को न सुनना शक्य नहीं। भिक्षु कानमें पड़े हुए शब्दोंमें राग द्वेष का परित्याग करे।

२—ण सक्का रूवमद्दट्ठुं, चक्खु विसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

रूप चक्षुका विषय है। आंखोंके सामने आये हुए रूपको न देखना शक्य नहीं। भिक्षु आंखोंके सामने आए हुए रूपमें राग द्वेषका परित्याग करे।

३—ण सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

गंध नाक का विषय है। नाकके समीप आई गंधको न सूंघना शक्य नहीं। भिक्षु नाकके समीप आई हुई गंधमें राग द्वेषका परित्याग करे।

४—ण सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

रस जिह्वा का विषय है। जिह्वा पर आए हुए रसका आस्वाद न लेना शक्य नही। भिक्षु जिह्वा पर आए हुए रसमे राग द्वेषका परित्याग करे।

५—ण सक्का फासमवेएउं, फासं विसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥
आ० २३ : १-५

स्पर्श शरीरका विषय है। स्पर्श विषयके उपस्थित होने पर उसका अनुभव न करना शक्य नही। स्पर्श विषयके उपस्थित होने पर भिक्षु उसमें राग द्वेषका परित्याग करे।

१० : मुनि और परिषह

१—सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सई।
जुञ्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं॥

सू० १, ३-१ : १

कायर मनुष्य भी जब तक विजयी पुरुषको नहीं देखता तब तक अपनेको शूर मानता है परन्तु वास्तविक संग्रामके समय वह उसी तरह क्षोभको प्राप्त होता है जिस तरह युद्धमें प्रवृत्त दृढ़धर्मी महारथी कृष्णको देख कर शिशुपाल हुआ था।

२—पयाया सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिए।
माया पुत्तं न जाणाइ, जेएण परिविच्छए॥

सू० १, ३-१ : २

अपने को शूर माननेवाला पुरुष संग्रामके अग्र भागमें चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और ऐसी घबड़ावट मचती है कि माता भी अपनी गोदसे गिरते हुए पुत्रकी सुध न रख सके तब शत्रुओंके प्रहारसे क्षतविक्षत वह अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है।

३—एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए।
सूरं मन्नइ अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए॥

सू० १, ३-१ : ३

जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रु—वीरोंसे घायल नहीं किया जाता

तभी तक शूर होता है, इसी तरह भिक्षाचर्यामें अनिपुण तथा परिषहोंके द्वारा अस्पर्शित अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभी तक अपनेको वीर मानता है जब तक रूक्ष संयमका सेवन नहीं करता।

४—जया हेमंतमासम्मि, सीयं फुसइ सव्वगं।
तत्थ मन्दा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया॥

सू० १, ३-१ : ४

जब हेमंत ऋतुके महीनोंमें शीत सब अङ्गोंको स्पर्श करता है उस समय मन्द जीव उसी तरह विषादका अनुभव करते हैं, जिस तरह राज्य भ्रष्ट क्षत्रिय।

५—पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा॥

सू० १, ३-१ : ५

ग्रीष्म ऋतुके अतितापसे पीड़ित होने पर जब अत्यन्त तृषाका अनुभव होता है उस समय अल्प पराक्रमी पुरुष उदास होकर उसी तरह विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे थोडे जलमें मच्छलियां।

६—सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा॥

सू० १, ३।१ : ६

भिक्षु जीवनमे दी हुई वस्तु को ही लेना—यह दुःख सदा रहता है। याञ्चाका परिषह दुःसह्य होता है। साधारण मनुष्य कहते हैं कि ये भिक्षु कर्मका फल भोग रहे हैं और भाग्यहीन है।

७—एए सद्दे अचायन्ता, गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, संगामम्मि व भीरुया॥

सू० १, ३।१ : ७

ग्रामोंमें या नगरोंमें कहे जाते हुए इन आक्रोशपूर्ण शब्दोंको सहन नहीं कर सकते हुए मंदमति जीव उसी प्रकार विषाद करते हैं जिस तरह भीरु मनुष्य संग्राममें।

८—अप्पेगे खुधियं भिक्खुं सुणी डंसइ लूसए।
तत्थ मन्दा विसीयंति, तेउपुट्ठा व पाणिणो॥

सू० १, ३-१ : ८

भिक्षाके लिए निकले हुए क्षुधित साधुको जब कोई क्रूर प्राणी कुत्ता आदि काटता है तो उस समय मंदमती पुरुष उसी तरह विषाद को प्राप्त होता है जिस तरह अग्निसे स्पर्श किए हुए प्राणी।

९—पुट्ठो य दंसमसगेहिं, तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया॥

सू० १, ३-१ : १२

दंश और मच्छड़ोंसे काटा जाकर तथा तृणकी शय्याके रुक्ष स्पर्शको सहन नहीं कर सकता हुआ मंदमति पुरुष यह भी सोचने लगता कि मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है परन्तु इस कष्टसे मरण तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है!

१०—संतत्ता केसलोएणं, बम्भचेरपराइया।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, मच्छा विट्ठा व केयणे॥

सू० १, ३-१ : १३

केशलोचसे पीड़ित और ब्रह्मचर्य पालनमें हारे हुए मंदमति पुरुष उसी तरह विषादका अनुभव करते हैं जिस तरह जालमें फँसी हुई मच्छली।

११—आयदण्डसमायारे, मिच्छासंठियभावना।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसन्ति नारिया॥

सू० १, ३।१ : १४

कई अनार्य पुरुष अपनी आत्माको दण्डका भागी बनाते हुए मिथ्यात्व की भावना में सुस्थित हो रागद्वेष पूर्वक साधुको पीड़ा पहुँचाते हैं।

१२—अप्पेगे पलियन्तेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बन्धन्ति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥

सू० १, ३।१ : १५

कई अज्ञानी पुरुष, पर्यटन करते हुए सुव्रती साधुको यह 'चर है' 'चोर है' ऐसा कहते हुए रस्सी आदिसे बांधते हैं और कटु वचन से पीड़ित करते हैं।

१३—अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथियमागया।
पडियारगया एए, जे एए एव जीविणो ॥

सू० १, ३-१ : ६

कोई संतोके द्वेषी मनुष्य साधुको देख कर कहते हैं कि भिक्षा मांग कर इस तरह जीवन निर्वाह करने वाले ये लोग अपने पूर्वकृत पापका फल भोग रहे हैं।

१४—तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
नाईणं सरई बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणि ॥

सू० १, ३-१ : १६

अनार्य देशमें अनार्य पुरुष द्वारा लाठी मुक्का अथवा फलकके द्वारा पीटा जाता हुआ मन्दमति पुरुष उसी प्रकार अपने बन्धुबान्धवोंको स्मरण करता है जिस तरह क्रोधवश घरसे निकलकर भागी हुई स्त्री।

१५—एए भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवावस गया गिहं ॥

सू० १, ३-१ : १७

शिष्यो ! पूर्वोक्त सभी परिषह कष्टदायी और दुसह हैं। बाणोंके प्रहार से घायल हुए हाथी की तरह कायर पुरुष इनसे घबरा कर फिर गृहवासमें चला जाता है।

१६—जहा संगामकालम्मि, पिट्ठओ भीरु वेहइ।
वलयं गहणं नूमं, को जाणइ पराजयं॥

सू० १, ३-३ : १

जैसे युद्धके समय कायर पुरुष, यह शंका करता हुआ कि किसकी विजय होगी, पीछेकी ओर ताकता है और गड्ढा, गहन और छिपा हुआ स्थान देखता है।

१७—एवं उ समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं।
अणागयं भयं दिस्स, अवकप्पंतिमं सुयं॥

सू० १, ३-३ : ३

इसी प्रकार कई श्रमण अपनेको संयम पालन करनेमें अबल समझ कर तथा अनागत भयकी आशंकासे व्याकरण तथा ज्योतिष आदि की शरण लेते हैं।

१८—जे उ संगामकालम्मि, नाया सूरपुरंगमा।
नो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया॥

सू० १, ३-३ : ६

परन्तु जो पुरुष लड़नेमें प्रसिद्ध और शूरोंमें अग्रगण्य होते है वे पीछेकी बात पर ध्यान नहीं देते हैं। वे समझते हैं कि मरण से भिन्न और क्या होगा ?

१९—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए॥

द० ८ : २६

मुमुक्षु कानोंको प्रिय लगनेवाले शब्दोंसे प्रेम न करे तथा दारुण और कर्कश स्पर्शोंको कायासे समभावपूर्वक सहन करे।

२०—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं ॥

द० ८ : २७

क्षुधा, प्यास, दुःशय्या, सर्दी, गर्मी, अरति, भय—इन सब कष्टों को मुमुक्ष अदीनभावसे सहन करे। समभावसे सहन किए गये दैहिक कष्ट महाफलके हेतु होते हैं।

२१—न वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पन्ती लोगंसि पाणिणो।
एवं सहिएहि पासए, अनिहे से पुट्ठे हियासए ॥

सू० १, २।१:१३

"मैं ही इन सब कष्टोंसे पीड़ित नहीं हूँ परन्तु दुनियांमें अन्य भी पीड़ित है"—यह सोचकर ज्ञानी कष्ट पड़ने पर अम्लान मनसे सहन करे।

११ : स्नेह-पाश

१—अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खूणं जे दुरुत्तरा।
जत्थे एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए॥

सू० १, ३-२ : १

बन्धु-बाँधवोंके स्नेह रूप उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते है। ये अनुकूल परिषह साधु पुरुषों द्वारा भी दुर्लघ्य होते हैं। ऐसे सूक्ष्म—अनुकूल—परिषहोंके उपस्थित होने पर कई खेदखिन्न हो जाते हैं और संयमी जीवनके निर्वाहमें समर्थ नहीं रहते।

२—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो! पूजयामु तं॥

स० १, ३-२ : १७

हे आयुष्मान्! वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियां और शय्या इन भोगों को आप भोगें। हम आप की पूजा करते हैं।

३—जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावम्मि सुव्वया।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा॥

सू० १, ३-२ : १८

हे सुन्दर व्रतवाले साधु! आपने जिन महाव्रत आदि रूप नियमोंका पालन किया है, वे सब गृहवास करने पर भी उसी तरह बने रहेंगे।

४—चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुओ तव।
इच्चेव णं निमंतेन्ति, नीवारेण व सूयरं॥

सू० १, ३-२ : १९

हे मुनिवर ! बहुत कालसे संयमपूर्वक विहार करते हुए आपको इस समय दोष कैसे लग सकता है ? इस प्रकार भोग भोगनेका आमंत्रण देकर लोग साधु को उसी तरह फँसा लेते हैं जैसे चावलके दानोंसे सूअर को।

५—अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मन्दा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा॥

सू० १, ३-२ : २१

रुक्ष संयम पालन करनेमें असमर्थ और बाह्याभ्यन्तर तपस्या से भय पाते हुए मन्द पराक्रमी जीव संयम-मार्गमें उसी प्रकार क्लेश पाते हैं, जिस प्रकार ऊँचे मार्गमें बूढ़ा बैल।

६—तत्थ मन्दा विसीयन्ति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठओ परिसप्पन्ति, पिट्ठसप्पी य संभमे॥

सू० १,३-४ : ५

अनुकूल परिषह के उपस्थित होने पर मन्द पराक्रमी मनुष्य भारसे पीड़ित गदहेकी तरह खेदखिन्न होते हैं। जैसे अग्निके उपद्रव होने पर पृष्ठसर्पी भागनेवालोंके पीछे रह जाता है, उसी तरह मूर्ख भी संयमियों की श्रेणीसे पीछे रह जाते हैं।

७—इच्चेव णं सुसेहन्ति, कालुणीयसमुट्ठिया।
विबद्धो नाइसंगेहिं, तओ गारं पहावइ॥

सू० १, ३-२ : ६

करुणासे भरे हुए बन्धुबान्धव एवं राजादि साधुको उक्त रीति

से शिक्षा देते हैं। पश्चात् उन ज्ञातियोंके संग से बँधा हुआ पामर साधु प्रव्रज्या छोड़ घरकी ओर दौड़ता है।

८—जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधइ।
एवं णं पडिबंधंति, नाइओ असमाहिणा॥

सू० १, ३-२ : १०

जैसे वनमें उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी तरह असमाधि उत्पन्न कर ज्ञातिवर्ग साधु को बांध लेते हैं।

९—विबद्धो नाइसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे।
पिट्ठओ परिसप्पंति, सुय गो व्व अदूरए॥

सू० १, ३-२ : ११

ज्ञातियोंके स्नेह-पाशमें बंधे हुए साधु की स्वजन उसी तरह चौकसी रखते हैं, जिस तरह नए पकड़े हुए हाथी की। जैसे नई ब्याई हुई गाय, अपने बच्छड़े से दूर नहीं हटती, उसी तरह परिवार वाले उसके पीछे २ चलते हैं।

१०—एए संगा मणूसाणं, पायाला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहि मुच्छिया॥

सू० १, ३-२ : १२

यह माता-पिता आदिका स्नेह-सम्बन्ध, मनुष्योंके लिए उसी तरह दुस्तर है, जिस तरह अथाह समुद्र। इस स्नेहमें मूर्छित—आसक्त—शक्तिहीन पुरुष संसारमें क्लेश भोगते हैं।

११—तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं॥

सू० १, ३-२ : १३

साधु ज्ञाति-संसर्ग को संसारका कारण जानकर छोड़ देवे।

सर्व संग—सम्बन्ध-कर्मों के महान् प्रवेश द्वार हैं। सर्वोत्तम धर्मको सुन कर साधु असंयम जीवनकी इच्छा न करे।

१२—अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए॥

सू० १, ६ : ३०

उदार भोगोंके प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्ष, यत्नपूर्वक संयममें रमण करे। धर्मचर्चामें अप्रमादी हो और कष्ट आ पड़ने पर अदीन भावसे—हर्षपूर्वक सहन करे।

१३—अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे।
न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी

सू० १, ११ : ३७

जिस तरह महागिरी वायुके झोकेसे डोलायमान नहीं होता, उसी तरह व्रतप्रतिपन्न पुरुष सम-विषम, ऊँच-नीच, अनुकूल-प्रतिकल परिषहोंके स्पर्श करने पर धर्म-च्युत नहीं होता है।

१२ : स भिक्षुः स पूज्यः

१—निक्खम्ममाणाइ य बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥
द० १० : १

जो जिनपुरुषोंके उपदेशसे निष्क्रमण कर—प्रव्रज्या ले--बुद्ध वचनों में सदा चित्तसमाधिवाला होता है, जो स्त्रियोके वशीभूत नही होता और जो वमन किये हुए भोगोंको पुन: ग्रहण नहीं करता—वह सच्चा भिक्षु है ।

२—चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥
द० १० : ६

जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका सदा परित्याग करता है, जो बुद्ध—तीर्थंकरोके वचनोंमें ध्रुवयोगी—स्थिर श्रद्धावाला—होता है, जो चांदी-सोना आदि किसी प्रकारका परिग्रह नहीं रखता और जो सदा गृहस्थोंके साथ योग—स्नेह-सम्बन्धका परिवर्जन करता है—वह सच्चा भिक्षु है ।

३—सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥
द० १० : ७

जो सम्यग् दृष्टि है, जो सदा अमूढ़ है—कर्त्तव्य विमूढ़ नहीं है, जो ज्ञान, तप और संयममें सदा विश्वासी है, जो मन, वचन और शरीरको अच्छी तरह संवृत कर रखनेवाला है, जो तप द्वारा पुराने पाप-कर्मोंको धुन डालता है—नष्ट कर देता है वह सच्चा भिक्षु है।

४—न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेणजुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू॥
द० १० : १०

जो कलह उत्पन्न करनेवाली कथा नहीं कहता, जो किसी पर क्रोध नहीं करता, जो इन्द्रियोंको सदा वशमें रखता है, जो मनसे उपशान्त है, जो संयममें सदा धुवयोगी—स्थिर मन है, जो कष्टके समय आकुल-व्याकुल नहीं होता और जिसकी कर्त्तव्यके प्रति उपेक्षा नहीं होती, वह सच्चा भिक्षु है।

५—असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू
द० १० : १३

जो मुनि सदा त्यक्तदेह होता है, जो आक्रोश किये जाने, पीटे जाने या घायल किये जाने पर भी पृथ्वीके समान क्षमाशील होता है, जो निदान—फलकी कामना नहीं करता तथा जो नाच-गान आदि में उत्सुकता नहीं रखता वही सच्चा भिक्षु है।

६—अभिभूय काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउअप्पयं।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू॥
द० ११ : १४

जो शरीरसे परिषहोंको जीतकर, जाति-पथ—विविध योनिरूप संसारसे अपनी आत्माका समुद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरणको

महाभयंकर जानकर संयम और तपमें रत रहता है वह सच्चा भिक्षु है।

७ हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजए इंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू॥
द० ११ : १५

जो हाथोंसे संयत है, पैरोंसे संयत है, वाणीसे संयत है, इन्द्रियोंसे संयत है, जो आध्यात्ममें रत है, जो आत्मासे सुसमाधिस्थ है और सूत्रार्थको यथार्थ रूपसे जानता है वह सच्चा भिक्षु है।

८—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू॥
द० ११ : १६

जो जातिका मद नहीं करता, रूपका मद नहीं करता, लाभका मद नहीं करता, श्रुत—ज्ञानका मद नहीं करता—इस प्रकार सब मदोंको विवर्जन कर जो धर्मध्यानमें सदा रत रहता है वह सच्चा भिक्षु है।

९—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥
द० ९। ३ : ११

गुणोंसे साधु होता है और अगुणोंसे असाधु। सद्गुणोंको ग्रहण करो और दुर्गुणोंको छोड़ो। जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्माको जानकर राग और द्वेषमें समभाव रखता है वह पूज्य है।

१०—सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥
द० ९। ३ : ६

उच्च कामनाकी आशासे मनुष्य लोहके तीक्ष्ण वाणोंको सहन करनेमें समर्थ हो सकता है किन्तु कानोंमें वाणोंकी तरह चुभनेवाले कठोर वचन रूपी वाणोंको जो सहन कर लेता है वह पूज्य है ।

११—समावयंता वयणाभिघाया, कन्नं गया दुम्मणियं जणंति।
धम्मु त्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥
द० ९।३:८

समूहरूपसे आते हुए कठोर वचन रूपी प्रहार कानमें पड़ते ही दौर्मनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं किन्तु 'क्षमा करना परम धर्म है' ऐसा मानकर जो इन्हें समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वह क्षमासूर और जितेन्द्रिय पुरुष पूज्य है ।

१२—संथारसिज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो
द० ९।३:५

जो संस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदिके अधिक मिलने पर भी अल्प इच्छावाला होता है और संतोषकी प्रधानता रखता है—इस प्रकार जो साधु अपनी आत्माको सदा तुष्ट रखता है—वह पूज्य है ।

१३ : मार्ग

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥

उत्त० ४ : ८

स्वच्छन्दताके निरोधसे जीव उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है जिस प्रकार शिक्षित कवचधारी घोड़ा युद्धमें विजय। अतः मुनि अप्रमत्त होकर रहे। ऐसा करनेसे पूर्व वर्षोंके संचित कर्मोंसे छुटकारा पाकर वह शीघ्र मोक्षको प्राप्त करता है।

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥

उत्त० ४ : १२

बुद्धिको मन्द करनेवाले और बहुत लुभानेवाले स्पर्शोंमें साधु अपने मनको न लगावे। क्रोधसे अपनी रक्षा करे, मानको टाले, कपटका सेवन न करे और लोभको छोड़ दे।

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं, अणेगरूवा समणं चरन्तं।
फासा फुसन्ति असमंजसं च, न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥

उत्त० ४ : ११

बार-बार मोह गुणको जीतकर चलनेवाले श्रमणको जीवनमें अनेक प्रकारके दुःखदायी स्पर्श स्पर्श करते हैं। भिक्षु उनके स्पर्श करने पर मनसे भी द्वेष न करे।

विजहित्तु पुव्वसंजोयं, न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू॥

उत्त० ८ : २

पूर्व संयोगको छोड़ चुकने पर फिर किसी भी वस्तुमें स्नेह न करे। स्नेह—मोह करनेवालोंके बीच जो निःस्नेही—निर्मोही होता है, वह भिक्षु दोष प्रदोषोंसे छूट जाता है।

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया वा॥

उत्त० ८ : ६

ये काम दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषों द्वारा सहज में त्याज नहीं। सुव्रती साधु इन दुस्तर कामभागोंको उसी तरह तैर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्रको।

समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं॥

उत्त० ८ : ७

'हम साधु हैं'—ऐसा कहनेवाले पर प्राणिवधमें पाप नहीं जानने वाले मृगके समान मन्दबुद्धि पुरुष अपनी पापपूर्ण दृष्टिसे नरक जाते हैं।

न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवं आयरिएहिं अक्खायं, जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो॥

उत्त० ८ : ८

जिन आचार्योंने इस साधु-धर्मका कथन किया है, उन्होंने कहा है कि प्राणिवधका अनुमोदन करनेवाला अवश्य ही कभी भी सर्व दुःखोंसे नहीं छूट सकता।

इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ॥

उत्त० ८ : १४

जो इस जीवनको वशमें न कर, समाधियोगसे परिभ्रष्ट होते हैं, वे कामभोग और रसमें गृद्ध जीव असुरकायमें उत्पन्न होते हैं ।

तत्तो वि य उव्वट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होई सुदुल्लहा तेसिं ॥

उत्त० ८ : १५

वहांसे भी निकल वे संसारमें बहु पर्यटन करते हैं । बहुत कर्मोंके लेपसे लिप्त उन्हें पुनः बोधिका पाना अत्यन्त दुर्लभ होता है ।

नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥

उत्त० ८ : १९

अनगार स्त्रियोंके संसर्गको छोड़े और उनमें मूर्छित न हो । भिक्षु धर्मको सुन्दर जानकर उसमें अपनी आत्माको स्थापन करे ।

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥

उ० ९ : १५

जो भिक्षु पुत्र-कलत्रको छोड़ चुका और जो व्यापारसे रहित है, उसके लिए कोई चीज प्रिय नहीं होती और न कोई अप्रिय होती है ।

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥

उ० ९ : १६

जो एकान्त रूपसे आत्म-गवेषी है, जो सर्व प्रकारसे बन्धनोंसे मुक्त अणगार और भिक्षु है, उस मुनिको सदा ही भद्र—कल्याण—क्षेम है।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

उ० २१ : १२

विद्वान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म और परिग्रह इन पांच महाव्रतोंको ग्रहण कर जिनोपदिष्ट धर्मका आचरण करे।

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरेज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए॥

उ० २१ : १३

भिक्षु सर्व भूतोंके प्रति दयानुकंपी हो। वह क्षमाशील हो, संयमी हो, ब्रह्मचारी हो। सर्व सावद्य योगका वर्जन करता हुआ भिक्षु इन्द्रियोंको अच्छी तरह दमन करता हुआ रहे।

१४ : निस्पृहता

१—निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ॥

उत्त० १६ : ६०

अनगार निर्मम—ममता रहित, अहंकार रहित, बाह्य और अभ्यन्तर संग रहित तथा त्यक्तगौरव होता है। वह सर्वभूतों—त्रस और स्थावर प्राणियोंके प्रति समभाववाला होता है।

२—लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, समो माणावमाणओ॥

उत्त० १६ : ६१

अनगार लाभ-अलाभ, सुःख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान सबमें समभाववाला होता है।

३—गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य।
निअत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो॥

उत्त० १६ : ६२

अनगार गारव (ऋद्धि, रस, सुख का गर्व), कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ), दण्ड (मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्ति), शल्य (माया, निदान, मिथ्यात्व), भय और हर्ष-शोकसे निवृत्त होता है। वह फलकी कामना नहीं करता और बंधन रहित होता है।

४—अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा॥
उत्त० १६ : ६३

वह इहलोकके (सुखों) की इच्छा नहीं करता, न परलोकके (सुखों) की इच्छा करता है। वसोलासे छेदा जाता हो या चंदनसे लेपा जाता, आहार मिलता हो या न मिलता हो, वह समभाववाला होता है।

५—अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहिआसवो।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो॥
उत्त० १६ : ६४

अनगार अप्रशस्त द्वार—कर्म आनेके हेतु—हिंसादिको चारों ओर से रोकर अनास्रव होता है तथा आध्यात्मिक ध्यानयोगसे प्रशस्त दम और शासनवाला होता है।

६—सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ॥
उत्त० ३५ : १६

अनगार शुक्ल ध्यान ध्याता रहे। जीवन-पर्यन्त फलकी कामना न करता हुआ अकिंचन और त्यक्तदेह होकर रहे।

७—एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य।
भावणाहि अ सुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं॥
उत्त० १६ : ६५

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं बोंदिं, पभू दुक्खे विमुच्चई॥
उत्त० ३५ : २०

अनगार इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और शुद्ध भावनासे आत्माको भावित करता हुआ कालधर्म—मृत्युके उपस्थिति होने पर आहारका परित्याग कर, इस मनुष्य शरीरको तज, विशेष सामर्थ्यवाला होता हुआ सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है।

८—निम्ममे निरहंकारे, वीयरागे अणासवे।
सपत्ते केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए॥

उत्त० ३५ : २१

ममता रहित, अहंकार रहित, आस्रव रहित वीतराग अनगार केवलज्ञानको प्राप्त कर हमेशाके लिए परिनिवृत्त होता—मुक्त होता है।

१५ : अनुस्रोत

१—अणुसोयसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥

द० चू० २ : ३

लोगोंको अनुस्रोतमें—विषयोके साथ बहनेमें—ही सुख प्रतीत होता है । साधु पुरुषोंका संयम प्रतिस्रोत है—विषयोंसे अलग होना है । अनुस्रोत संसार-समुद्रमें बहना है । प्रतिस्रोत संसार-समुद्रसे पार होना है ।

२—अणुसोयपट्ठिय बहुजणम्मि, पडिसोय लद्ध लक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥

द० चू० २ : २

बहुतसे मनुष्य अनुस्रोतगामी होते हैं; पर जिनका लक्ष्य किनारे पहुंचना है, वे प्रतिस्रोतगामी होते हैं । जो ससार-समुद्रसे मुक्ति पानेकी इच्छा करते हैं उन्हें अनुस्रोत—विषयपराङ्मुखतामें आत्माको स्थिर करना चाहिए ।

३—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥
किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वाऽहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

द० चू० २ : १२, १३

साधु रात्रिके प्रथम और पिछले पहरमें अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्माको देखे कि मैंने क्या-क्या करने योग्य कार्य किये हैं, क्या-क्या कार्य करने शेष हैं, वे कौन-कौनसे कार्य हैं, जिन्हें करनेकी शक्ति तो है किन्तु कर नहीं रहा हूं।

मुझे दूसरे कैसा पाते हैं, अपनी आत्मा मुझे कैसा पाती है, मैं अपनी किन-किन भूलोंको नहीं छोड़ रहा हूं।

इस प्रकार अपने आपको अच्छी तरह देखनेवाला भविष्यमें दोष नहीं लगाता।

४—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमि वक्खलीणं॥

द० चू० २ : १४

जब कभी अपने आपको मन, वचन, कायासे कहीं भी दुष्प्रवृत्त होते देखे तो धीर पुरुष, जैसे घोड़ेको लगामसे खींच लिया जाता है, उसी तरह उसी क्षण अपने आपको उस दुष्प्रवृत्तिसे हटा ले।

५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीयई संजमजीविएणं॥

द० चू० २ : १५

जिस धृतिवान, जितेन्द्रिय सत्पुरुषके मन, वचन, कायाके योग इस प्रकार नित्य वशमें रहते हैं उसे ही लोकमें प्रति बुद्धजीवी—सदा जागृत—कहा जाता है। सत्पुरुष हमेशा संयमी जीवन जीता है।

६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खियो जाइपहं उवेइ, सुरक्खियो सव्वदुहाण मुच्चइ॥

द० चू० २ : १६

सर्व इद्रियोंको अच्छी तरह वशमें कर आत्माकी (पापोंसे) अवश्य ही सतत् रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं होती, वह जाति-पथमें—भिन्न-भिन्न योनियोंमे—जन्म-मरण ग्रहण करती है; जो आत्मा सुरक्षित होती है वह सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाती है।

१६ : अप्रमाद

१—असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते, कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥
उत्त० ४ : १

यह जीवन सांधा नहीं जा सकता, अतः जरा भी प्रमाद मत करो। जराक्रान्तके लिए कोई शरण नहीं, ऐसा जानो। जो प्रमत्त, हिंसक और अजितेन्द्रिय हैं वे मरण-कालमें किसकी शरण ग्रहण करेंगे ?

२—सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥
उत्त० ४ : ६

पण्डित सोयेहुओंमें जागृत रहे। वह एक क्षणका भी विश्वास न करे। मुहूर्त—काल निर्दय है और शरीर निर्बल। आशुप्रज्ञ पुरुष भारंडपक्षी[1] की तरह हमेशा अप्रमत्त रहे।

३—चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।
लाभंतरे जीवियं वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥
उत्त० ४ : ७

जो भी पाप हैं, उन्हें पाश रूप मानता हुआ मनुष्य पद-पद पर डरता हुआ चले। जीवनसे धर्मरूपी लाभ दिखाई दे तब तक उसकी

१—इन पक्षियोंके दो ग्रीवा और तीन टांगे होती हैं।

रक्षा करे फिर उसे त्याग कर कर्मरूपी मलका नाश करनेवाला हो।

४—स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं।
विसीयई सिढ़िले आउयम्मि, कालोवणीए सरीरस्स भेए॥
उत्त० ४ : ९

'अब नहीं किया तो क्या? आगे कर लेंगे'—यह तर्क शाश्वत-वादियों की है। जो पहले अप्रमादी नहीं होता वह पहलेकी तरह पीछे भी अप्रमादी नहीं होता। कालके आ पहुँचने पर जब शरीरका भेद होने लगता है तो शिथिल आयु—गात्रवाला वह केवल विषाद करता है।

५—खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणुरक्खी चरमप्पमत्तो॥
उत्त० ४ : १०

नर-जन्म बीत जानेके बाद प्राणी शीघ्र विवेक नहीं प्राप्त कर सकता। अतः कामभोगको छोड़, धर्मके लिए जागृत हो। महर्षि लोकके जीवोंको समभावसे देखे और आत्माकी रक्षा करता हुआ अप्रमत्तभावसे चले।

६—जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेओ॥
उत्त० ४ : १३

जो संस्कारहीन हैं, तुच्छ हैं, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले हैं—ऐसे लाचार मनुष्य राग द्वेषसे युक्त हैं। इन अधर्मों—दुर्गुणोंसे घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-भेद पर्यन्त सद्गुणोंकी आकांक्षा—आराधना करता रहे।

१७ : मुनि और चित्तसमाधि

१—जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥

द० चू० १ : १

जब अनार्य साधु, भोगलिप्सासे धर्मको छोड़ता है, उस समय कामभोगमें मूर्छित मूर्ख अपने भविष्य को नहीं समझता ।

२—जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥

द० चू० १ : ४

जब संयमी रहता है तब साधु पूज्य होता है, किन्तु संयमसे भ्रष्ट होने पर वह अपूज्य हो जाता है । राज्यच्युत राजाकी तरह वह पीछे अनुताप करता है ।

३—देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥

द० चू० १ : १०

संयममें रत महर्षियोंके लिए चरित्रपर्याय देवलोकके समान (सुखकारक) होती है । जिन्हें संयममें रति नहीं, उनके लिए वही चरित्रपर्याय महानरकके सदृश कष्टदायक होती है ।

४—धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्झाअमिवप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला, दाढुड्ढियं घोरविसं व नागं ॥
द० चू० १ : १२

जिस तरह अल्पतेज बुझी हुई यज्ञाग्नि और उखड़े हुए दाढ़वाले विषधर सर्पकी हर कोई अवहेलना करते हैं, उसी तरह जो धर्मसे भ्रष्ट और चरित्र रूपी लक्ष्मीसे रहित होता है उस साधु की दुष्ट और कुशील भी निन्दा करते हैं।

५—इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई॥
द० चू० १ : १३

जो धर्मसे च्युत होता है और अधर्मका सेवन करता है उसका इस लोकमें साधारण लोगोमें भी दुर्नाम होता है। वह अधर्मी कहा जाकर अयश और अकीर्त्तिका पात्र बनता है। व्रत भंग करनेवालेकी परलोकमें अधम गति होती है।

६—भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झियंदुहं, बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ॥
द० चू० १ : १४

संयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्तसे भोगोंको भोगकर तथा अनेक प्रकारके असंयमका सेवन कर दुःखद अनिष्ट गतिमें जाता है। बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती।

७—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो, दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥
द० चू० १ : १५

नरकमें गये हुए दुःखसे पीड़ित और निरन्तर क्लेशवृत्ति वाले जीवकी जब नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपमकी आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर मेरा यह मनो दुःख तो कितने कालका है ?

८—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ,असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

द० चू० १ : १६

यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा । जीवों की भोगपिपासा अशाश्वती है । यदि विषयतृष्णा इस शरीरसे न जायगी तो मेरे जीवनके अन्तमें तो अवश्य जायगी ।

९—जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,चइज्जदेहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिया, उविंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥

द० चू० १ : १७

जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ़ होती है, वह देह को त्यज देता है पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ता । इन्द्रियाँ—विषय सुख—ऐसे दृढ़ धर्मी मनुष्य को उसी तरह विचलित नही कर सकती जिस तरह महावायु सुदर्शन गिरि को ।

१८ : निर्ग्रन्थ

१—पंचासव परिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥

द० ३ : ११

निर्ग्रन्थ, पंचाश्रवको जाननेवाले, तीन गुप्तियोंसे गुप्त, छः ही प्रकारके जीवोंके प्रति संयमी, पांचों ही इन्द्रियोंको निग्रह करनेवाले तथा धीर और ऋजुदर्शी होते हैं।

२—आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥

द० ३ : १२

सुसमाधिस्थ संयमी निर्ग्रन्थ, ग्रीष्मकालमें सूर्यकी आतापना लेते हैं, शीतकालमे अल्पाच्छन्न होते हैं, और वर्षामे प्रतिसंलीन—इन्द्रियों को वशमें कर अन्दर रहते हैं।

३—परीसहरिऊदंता, धूअमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥

द० ३ : १३

महर्षि निर्ग्रन्थ, परिषहरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले, धुतमोह और जितेन्द्रिय होते हं तथा सर्व दुःखोंके नाशके लिए पराक्रम करते हैं।

४—दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य।
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झन्ति नीरया॥

द० ३ : १४

दुष्कर करनी कर और दुःसह कष्टोंको सहन कर कई देवलोकको जाते हैं और कई सम्पूर्णतः निरज—कर्मरजसे रहित जाते हैं।

५—खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे॥

द० ३ : १५

छः कायके त्रायी निर्ग्रन्थ, सयम और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मोका क्षय कर, सिद्धिमार्गको प्राप्त हो, परिनिवृत्त—मुक्त होते हैं।

६—तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स॥

द० ४ : २७

जिसके जीवनमें तपरूपी गुणकी प्रधानता है, जो ऋजुमति है, जो क्षांति और सयममें लवलीन है, जो परिषहोंको जीतनेवाला है—ऐसे साधुके लिए सुगति सुलभ है।

७—सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा पहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स॥

द० ४ : २६

जो श्रमण सुखका स्वादी होता है, साताके लिए आकुल होता है, जो अत्यन्त निन्द्राशील होता है और जो हाथ पैर आदि धोनेके लिए दौड़ता रहता है—ऐसे साधुके लिए सुगति दुर्लभ है।

१९ : कौन संसार-भ्रमण नहीं करता ?

१—रागद्दोसे अ दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुंभइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ३

राग और द्वेष—ये दो पाप हैं, जो ज्ञानावरणीय आदि पाप कर्मोंके प्रवर्तक हैं। जो भिक्षु इन्हें रुंधता—रोकता है, वह संसारमें भ्रमण नहीं करता।

२—दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ४

तीन दंड[1], तीन गौरव[2] तथा तीन शल्य[3]—इन तीन-तीनका जो भिक्षु नित्य त्याग करता है, वह संसारमें चक्कर नहीं काटता।

३—विगहाकसायसण्णाणं, झाणाणं च दुअं तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं, से न अच्छई मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ६

१—मन दड, वचन दंड और काया दण्ड।

२—ऋद्धिका गर्व, रसका गर्व और साता—सुखका गर्व।

३—माया, निदान (फल-कामना), और मिथ्यात्व।

चार विकथा[४], चार कषाय[५], चार संज्ञा[६] और चार ध्यानमेंसे दो ध्यान[७]—जो भिक्षु इन्हें नित्य टालता है, वह संसारमें चक्कर नहीं काटता।

४—मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले॥

उत्त० अ० ३१ : १०

आठ प्रकारके मद[८]-त्याग, ब्रह्मचर्यकी नौ गुप्ती[९] और दश प्रकारके भिक्षु-धर्म[१०] के प्रति जो भिक्षु यत्न करता है—वह संसारमें चक्कर नहीं काटता।

४—राज कथा, देश कथा, भोजन कथा और स्त्री कथा।

५—क्रोध, मान, माया और लोभ।

६—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा।

७—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान।

८—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, ऐश्वर्यमद, श्रुतमद, और लाभमद।

९—देखिये पीछे पृ०२३९-५०

१०—क्षांति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (निर्लोभता), तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

२० : विनयी बनाम अविनयी

१—खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठि त्ति मण्णइ ॥

उत्त० १ : ३८

पाप दृष्टि शिष्य गुरु द्वारा हितके लिए किए गए अनुशासनको इस प्रकार मानता है जैसे कोई ठोकरें मारता है, चपेटा मारता है, कोसता है और उसका वध करता है।

२—पुत्तो मे भाय णाइ त्ति, साहु कल्लाण मण्णइ।
पावदिट्ठि उ अप्पाणं, सासं दास त्ति मण्णइ ॥

उत्त० १ : ३९

विनीत शिष्य गुरुके अनुशासनको पुत्र, भ्राता और ज्ञाति जनोंको दिए गए शिक्षणके समान हितकारी मानता है और पापदृष्टि मूर्ख शिष्य उसी हितकारी अनुशासनको अपने लिए दासत्वकी शिक्षाके समान मानता है।

३—अणासवा थूलवया कुसीला, मिउं पि चण्डं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

उत्त० १ : १३

गुरुके वचनको न माननेवाले और विना विचारे बोलनेवाले कुशील शिष्य मृदु स्वभाववाले गुरुको भी क्रोधी कर देते हैं। गुरुके चित्तके

अनुसार चलनेवाले और थोड़े बोलनेवाले चतुर शिष्य अतिक्रोधी गुरु को भी अपने गुणोंसे प्रसन्न कर लेते हैं।

४—आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई॥
उत्त० १ : २

गुरुके आज्ञा और निर्देशका पालन करनेवाला, उसके समीप रहनेवाला तथा गुरुके इङ्गित और आकारको भली-भांति समझनेवाला शिष्य विनयी कहलाता है।

५—आणाऽणिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चई॥
उत्त० १ : ३

जो गुरुके आज्ञा और निर्देशका पालन करनेवाला नहीं होता, उसके समीप नहीं रहता तथा जो प्रतिकूल चलनेवाला और बोध रहित होता है, वह अविनयी कहलाता है।

२१ : साधु-धर्म

१—मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया।
सत्थादाणाइ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ६ : १०

झूठ बोलना, मैथुन सेवन करना, परिग्रह रखना तथा विना दिया हुआ लेना—ये सब लोकमें शस्त्रके समान और कर्मबन्धनके कारण हैं। विद्वान् इन्हें जानकर इनका प्रत्याख्यान करे।

२—पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ६ : ११

माया और लोभ तथा क्रोध और मान, संसारमें कर्मबन्धनके कारण हैं। विज्ञ इनका त्याग करे।

३—अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवस्सगा, पडिबुज्झेज्ज ते विऊ॥

सू० १, ६ : २८

भिक्षु स्वयं सदा अकुशील होकर रहे। वह कुशील—दुराचारियों का संसर्ग न करे। कुशीलोंकी संगतिमें सुखरूप—अनुकूल उपसर्ग—विद्यमान रहते हैं—यह विद्वान् पुरुष जाने।

४—गिहे दीवमपासन्ता, पुरिसादाणिया नरा।
ते वीरा बन्धणुम्मुक्का, नावकंखन्ति जीवियं ॥

सू० १, ६ : ३४

गृहमें ज्ञानरूपी दीपक न देख जो पुरुष प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, वे बड़ेसे बड़े हो जाते हैं। ऐसे पुरुष बन्धनसे मुक्त होते हैं। वे वीर पुरुष असंयममय जीवनकी इच्छा नहीं करते।

५—नानारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे ॥

उत्त० १८ : ३०

संयमी, नाना प्रकारकी रुचि, स्वच्छताएँ और सारी अनर्थकारी क्रियाओंको छोड़ कर विद्या—ज्ञानका अनुसरण करे।

६—विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥

उत्त० ३ : १३

परम दुर्लभ अङ्गोंको रोकनेवाले कर्मोके हेतुओंको दूर कर, क्षमा से संयमरूपी यशका संचय कर। ऐसा करनेसे जाव इस पार्थिव शरीरको छोड़ ऊर्ध्व दिशा—स्वर्ग या मोक्ष—को पाता है।

७—अइ माणं च मायं च, तं परिन्नाय पण्डिए।
सव्वमेयं निराकिच्चा, निव्वाणं संधए मुणी ॥

सू० १, ११ : ३४

पण्डित मुनि अति मान और माया [illegible] तथा इनको त्याग कर निर्वाण—मोक्षकी खोज करे।

८—संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं [illegible] ॥

[illegible] : ३५

भिक्षु क्षान्ति आदि साधु-धर्मकी वृद्धि करे। पाप धर्मका त्याग करे। तप करनेमें यथाशक्य पराक्रमी भिक्षु क्रोध और मानका वर्जन करे।

९—लद्धेकामे न पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया॥
सू १, ९ : ३२

कामभोग प्राप्त हो, तो भी उनकी कामना न करे। ज्ञानियोंने त्यागियोंके लिए ऐसा ही विवेक बतलाया है। बुद्ध पुरुषके समीप रह कर मुनि सदा सदाचार सीखे।

१०—अगिद्धे सद्दफासेसु, आरम्भेसु अणिस्सिए,
सव्वं तं समयातीतं, जमेयं लवियं बहु॥
सू० १, ९ : ३५

सत्य मार्गकी गवेषणा करनेवाले पुरुष, शब्द, स्पर्श प्रमुख विषयोंमें अनासक्त रहते हैं तथा छः कायकी हिंसावाले कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं करते। जो सब बातें निषेध की गई है वे समय—जैन दर्शनसे विरुद्ध होनेके कारण निषेध की गई हैं।

२२ : समाधि

१—आदीणवित्तीव करेइ पावं, मंता उ एगंतसमाहिमाहु।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे, पाणाइवाया विरए ठियप्पा॥
सू० १, १० : ६

दीन वृत्तिवाला मनुष्य पाप कर्म करता है। मतिवान् पुरुषोंने आहारादिके सम्बन्धमें भी एकान्त अदीन भाव रूप समाधिको ही ठीक बतलाया है। बुद्ध पुरुष समाधिमें रत रह कर विवेक पूर्वक प्राणातिपात से बचे और सत्यमें स्थिरात्मा बने।

२—न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला, अकम्मुणाकम्म खवेंति धीरा।
मेहाविणो लोभभयावईया, संतोसिणो नो पकरेंति पावं॥
सू० १, १२ : १५

मिथ्यामति जीव सावद्य—पापानुष्ठानसे संचित कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता। धीर पुरुष सावद्यानुष्ठानसे विरत होकर पूर्व कर्मोंका क्षय करता है। प्रज्ञावान पुरुष परिग्रह—लोभ भाव—से सम्पूर्ण विरहित हो, सन्तोषभाव धारण कर पाप कर्म नहीं करता।

३—डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहई लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएजा॥
सू० १, १२ : १८

इस जगत्में छोटे शरीरवाले भी प्राणी हैं और बड़े शरीरवाले

भी। इन सबको—सारे जगत्को—आत्मवत् देखना चाहिए। इस लोक के सर्व प्राणियोंको महान् देखता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष प्रमत्तोंमें अप्रमत्त होकर चले।

४—ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूयाहिसंकाइ दुगुंछमाणा।
सया जया विप्पणमंति धीरा, विण्णत्तिवीरा य भवंति एगे॥

सू० १, १२ : १७

पापोंसे घृणा करनेवाले पुरुष, भूतोंके घातकी शंकासे कोई पाप नहीं करते और न करवाते हैं। कई ज्ञानमात्रसे वीर बनते हैं क्रियासे नहीं, परन्तु धीर पुरुष सदा संयममें पराक्रम करते हैं।

५—सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के

सू० १, १२ : २२

मनोहर शब्द और रूपमें आसक्त न होता हुआ, बुरे गन्ध और रसमें द्वेष न करता हुआ तथा जीने और मरणकी इच्छा न करता हुआ साधु संयमसे गुप्त और मायासे रहित होकर रहे।

६—न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई।
बाले पावेहि मिज्जई इइ, संखाय मुणी न मज्जई॥

१, २। २ : २१

यह जीवन सांधा नहीं जा सकता—ऐसा कहा गया है, तो भी मूर्ख प्राणी प्रगल्भतावश पाप करते रहते हैं। मूर्ख पापोंसे ढक जाता है—यह जानकर मुनि मद न करे।

७—सउणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दवियोवहाणं कम्मं, खवइ तवस्सि माहणे॥

१, २-१-१५

जिस तरह धूलसे भरी हुई शकुनिका अपने शरीरमें लगी हुई धूलको पंख हिला कर झाड़ देती है, उसी तरह तपस्वी माहन अनशन आदि तपसे अपने कर्मको झाड़ देते हैं।

· २३ : निर्वाण मार्ग

१—अरइरइसहे पहीणसंथवे, विरए आयहिए पहाणवं ।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥
उत्त० २१ : २१

जो रति और अरतिको सहन करनेवाले हैं, जो गृहस्थके परिचय को नाश कर चुके, जो पापोंसे विरत हैं, आत्महित ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, जो छिन्न स्त्रोत हैं तथा जो ममत्व रहित और अकिंचन है—वे ही परमार्थके पथ पर अवस्थित हैं ।

२—सीओसिणा दंसमसाय फासा, आयंका विविहा फुसन्ति देहं ।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ॥
उत्त० २१ : १८

सर्दी, गर्मी, दंशमशक, कठोर तीक्ष्ण स्पर्श, तथा विविध आतंक आदि अनेक परिषह मनुष्य शरीरको स्पर्श करते हैं । साधु इन सबको बिना किसी विकृतिके सहन करे। ऐसा करनेसे वह पूर्व सचित रजका क्षय करता है ।

३—उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयइज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए ॥
उत्त० २१ : १५

साधु विरोधियोंकी उपेक्षा करता हुआ संयममें विचरण करे। प्रिय और अप्रिय सब सहन करे। जहां जो हो सबमें अभिरुचि न करे। न पूजा एवं गर्हाकी स्पृहा करे।

४—अणेग छन्दा मिह माणवेहिं, जे भावओ संपकरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमो, दिव्वा माणुस्सा अदुवा तिरिच्छा॥
उत्त० २१ : १६

इस लोकमें मनुष्यके अनेक अभिप्राय होते हैं। यहां देवताओंके, मनुष्योंके और तिर्यञ्चोंके अनेक भयंकर भय उदयमें आते—उत्पन्न होते हैं। भिक्षु उन सबको समभावसे ले और सहन करे।

५—परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहु कायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए, संगामसीसे इव नागराया॥
उत्त० २१ : १७

ऐसे अनेक दुःसह परिषह हैं, जिनके सम्मुख कायर पुरुष व्यथित हो जाते हैं। पर पण्डित उनके उपस्थित होने पर उसी तरह व्यथित नहीं होते, जिस तरह संग्रामके अग्र मुख पर रहा हुआ नागराज।

६—पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा॥
उत्त० २१ : १९

विचक्षण भिक्षु, राग, द्वेष तथा मोहको सतत् छोड़े तथा जिस तरह मेरु वायुसे कम्पित नहीं होता है उसी तरह वह आत्मगुप्त परिषहोंको अकम्पित भावसे सहन करे।

७—अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरिहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेइ॥
उत्त० २१ : २०

जो न अभिमानी है और न दीनवृत्तिवाला है, जिसका पूजामें उन्नत भाव नहीं और न निन्दामें अवनत भाव है, वह ऋजुभावको प्राप्त संयमी महर्षि पापोंसे विरत होकर निर्वाणमार्गको प्राप्त करता है।

२४ : जीवन सूत्र

(१) नव प्रव्रजितके लिए

गन्थं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुवम्भचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा।।

सू० १, १४ : १

आत्मार्थी इस संसारके स्वरूपको जान, आत्म-कल्याणके लिए उद्यत हो ग्रन्थ—धनधान्यादिका त्याग करे। (नव प्रव्रजित साधु) धर्म-शिक्षाका बोध पाता हुआ, ब्रह्मचर्यका अच्छी तरह पालन करे। वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता हुआ विनय सीखे। निपुण साधु, कभी भी प्रमाद न करे।

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं वा वितिगिच्छतिण्णे।।

सू० १, १४ : ६

मधुर या भयंकर शब्दोंको सुन कर शिष्य उनमें राग-द्वेष रहित होकर विचरे। साधु निद्रा और प्रमाद न करे और हर उपायसे विचिकित्सा—मनकी डांवाडोल स्थितिसे उत्तीर्ण हो।

डहरेण वुड्ढेणणुसासिए उ, राइणिएणावि समव्वएणं।
सम्मं तयं थिरओ नाभिगच्छे, निज्जन्तए वावि अपारए से।।

सू० १, १४ : ७

जो बालक या वृद्ध, बड़े या समवयस्क साधु द्वारा अनुशासित किये जाने पर—भूल सुधारके लिए कहे जाने पर—अपने को सम्यक् रूप से स्थिर नहीं करता है वह संसार प्रवाहमें बह जाता है और उसे पार नहीं पा सकता।

विउट्ठिएणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे॥
न तेसु कुज्झे न य पव्वहेज्जा, न यावि किंची फरुसं वएज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं न पमाय कुज्जा॥
सू० १, १४ : ८, ६

परतीर्थिक आदि द्वारा, किसी दूसरे छोटे, बड़े या समवयस्क द्वारा, अत्यन्त हलका काम करने वाली दासी या घटदासी द्वारा अथवा गृहस्थ द्वारा भी समय—अर्हत दर्शन—की ओर अनुशासित—आकृष्ट—किया हुआ साधु उनपर क्रोध न करे और न उन्हें पीड़ित करे। वह उनके प्रति कटु शब्द न कहे। पर मैं अबसे ऐसा ही करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करे। वह यह सोचकर कि यह मेरे खुदके भलेके लिए है कभी प्रमाद न करे।

वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं।
तेणेव मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा समणुसासयन्ति॥
सू० १, १४ : १०

वन में दिग्मूढ़ मनुष्य को दिशा निर्देश करने वाला अमूढ़ मनुष्य जैसे उसका हित करता है, उसी तरह से मेरे लिए भी यह श्रेयस्कर है जो बुद्ध पुरुष मुझे शिक्षा देते हैं।

२ : उपदेशके लिए

संखाइ धम्मं च वियागरन्ति, बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधियं पण्हमुदाहरन्ति॥
सू० १, १४ : १८

धर्म को अच्छी तरह जान कर जो बुद्ध पुरुष उपदेश देते हैं, वे ही सर्व संशयों का अन्त कर सकते हैं। अपनी ओर दूसरों की—दोनों की मुक्ति साधने वाले पारगामी पुरुष ही गूढ़ प्रश्नों को हल कर सकते हैं।

नो छायए नो वि य लूसएज्जा, माणं न सेवेज्ज पगासणं च।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा, न यासियावाय वियागरेज्जा॥

सू० १, १४ : १९

बुद्ध पुरुष सत्य को नहीं छिपाते, न उसका लोप करते हैं, वे मान नहीं करते, न अपनी बड़ाई करते हैं। बुद्धिमान होकर वे दूसरों का परिहास नहीं करते और न आशीर्वाद देते है।

भूयाभिसंकाइ दुगुञ्छमाणे, न निव्वहे मन्तपएण गोयं।
न किंचिमिच्छे मणुए पयासुं, असाहुधम्माणि न संवएज्जा॥

सू० १, १४ : २०

साधु प्राणियों के विनाश की शंका से सावद्य वचन से घृणा करता रहे। वह मंत्रविद्या के द्वारा अपने गोत्र—संयम—को नष्ट न करे। प्रजा—लोगोंमें—धर्मोपदेश करता हुआ उनसे किसी चीज की चाह न करे तथा असाधुओं के धर्मका (वस्तुदान, तर्पण आदि का) उपदेश न दे।

हासं पि नो संधइ पावधम्मे, ओए तईयं फरुसं वियाणे।
नो तुच्छए नो य विकंथइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू॥

सू० १, १४ : २१

साधु, हास्य उत्पन्न हो ऐसा शब्द या मन, वचन काया की चेष्टा न करे। तथ्य होने पर भी दूसरे को कठोर लगने वाले शब्द न कहे। तुच्छ न हो। विकथा न करे। वह लोभ और कषाय रहित हो।

संकेज्ज या संकिय भाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुयं धम्मसमुट्ठिएहिं, वियागरेज्जा समयासुपन्ने॥

सू० १, १४ : २२

अर्थ आदि के विषय में शंका रहित भी भिक्षु संभल कर बोले। वह विभज्यवाद—स्याद्वादमय वचन बोले। धर्म में समुपस्थित मनुष्यों मे रहता हुआ दो भाषा—सत्य भापा और व्यवहार का प्रयोग करे। सुप्रज्ञ साधु समभाव से सबको धर्म कहे।

अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
न कत्थई भास विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा॥

सू० १, १४ : २३

कई साधु के अर्थ को ठीक समझ लेते हैं और कई उसे विपरीत समझ लेते हैं। साधु अकर्कश शब्दों से वस्तु तत्व समझावे। कठोर बात न कहे। प्रश्नकर्त्ताकी भाषा का उपहास न करे और न छोटे अर्थ को लम्बा करे।

अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जइज्जया नाइवेलं वएज्जा।
से दिट्ठिमं दिट्ठि न लूसएज्जा, से जाणइ भासिउं तं समाहिं॥

सू० १, १४ : २५

उपदेशक बुद्ध वचनों को अच्छी तरह सीखे। गूढ़ार्थ जानने के लिए यत्न करे। मर्यादा उपरान्त न बोले। वह दृष्टिवान् ज्ञानियों की दृष्टिको दूषित न करे। ऐसा उपदेशक ही सच्ची भाव समाधिको कहना जानता है।

अलूसए नो पच्छन्नभासी, नो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
सत्थारभत्तो अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडिवाययन्ति॥

सू० १, १४ : २६

उपदेशक सिद्धान्त का लोप न करे, वह प्रच्छन्न भाषी न हो। वह सूत्र और अर्थको विकृत न करे परन्तु उनकी अच्छी तरह रक्षा करनेवाला हो। वह गुरुके प्रति अच्छी तरह भक्ति रखता हुआ, गुरु की बात विचार कर सुनी हुई बातको यथातथ्य कहे।

से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विन्दइ तत्थ तत्थ।
आएज्जवक्के कुसले वियत्ते, स अरिहइ भासिउं तं समाहिं॥

सू० १, १४ : २७

जो आगम सूत्रोंको शुद्ध रूपसे समझता हो, जो तपस्वी हो, जो धर्मको यथातथ्य जानता हो, जो प्रामाणिक बोलता हो, जो कुशल हो तथा विवेकयुक्त हो वही सम्पूर्ण रूपसे मोक्ष-मार्गका उपदेश देने योग्य है।

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं, खुद्दंपि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आउस्स कालाइयारं वघाए लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे॥

सू० १, १३ : २०

तर्क से दूसरेके भाव को न समझ कर उपदेश करने से दूसरा पुरुष श्रद्धा न कर क्षुद्रता धारण कर सकता है और आयुक्षय भी कर सकता है इसलिए अनुमान से दूसरे का अभिप्राय समझकर धर्मोपदेश करे।

न पूयणं चेव सिलोयकामी पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिव्वजयन्ते अणाउले या अकसाइ भिक्खू॥

सू० १, १३ : २२

भिक्षु धर्मोपदेश के द्वारा अपनी पूजा और स्तुति की कामना न करे तथा किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे एवं सब अनर्थोंको टालता हुआ अनाकुल और कषाय रहित होकर धर्मोपदेश करे।

३ : चर्चावादीके लिए

रागदोसाभिभूयप्पा मिच्छतेण अभिद्दुया।
आउस्से सरणं जंति टंकणा इव पव्वयं॥

सू० १, ३। ३ : १८

राग और द्वेष से पराजित तथा मिथ्यात्वसे व्याप्त अन्यतीर्थी युक्तियों द्वारा वाद करनेमें असमर्थ होकर आक्रोश—गाली गलौज—और मारपीट आदिका आश्रय लेते हैं—जैसे टङ्कण नामक म्लेच्छ जाति हारकर पहाड़का आश्रय लेती है।

बहुगुणप्पगप्पाइं कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणन्ने न विरुज्झेज्जा तेण तं तं समायरे॥

सू० १, ३। ३ : १९

आत्मसमाधिमें लीन मुनि वाद करते समय ऐसी बातें करें जो अनेक गुण उत्पन्न करने वाली हों। मुनि प्रतिवादी विरोधी न बने ऐसा कार्य अथवा भाषण करे।

४ : मुनिके लिए

अन्नायपिंडेण हियासएज्जा, नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहि रूवेहि असज्जमाणं, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं॥

सू० १, ७ : २७

साधु अज्ञात पिण्डसे जीवन चलावे। तपस्याके द्वारा पूजाकी इच्छा न करे। वह शब्द और रूपमें आसक्त न हो। और सर्व कामनासे चित्त को हटावे।

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा॥

सू० १, ७ : २८

धीर भिक्षु सब सम्बन्धोंको छोड़कर सब प्रकारके दुःखोंको सहन करता हुआ चारित्रमें सम्पूर्ण होता है। वह अगृद्ध और अप्रतिबंध-विहारी होता है। वह प्राणियोंको अभय देता हुआ विषयों में अनाकुल रहता है।

भारस्स जाआ मुणि भुञ्जएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा॥

सू० १, ७ : २९

मुनि संयम भारके निर्वाह के लिए आहार करे। वह पूर्व पापों के विनाशकी इच्छा करे। परिषह और उपसर्ग आ पड़ने पर धर्ममें ध्यान रक्खे। जैसे सुभट युद्धभूमिमें शत्रुको दमन करता है उसी तरह वह अपनी आत्माका दमन करे।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखइ अन्तगस्स।
निधूय कम्मं न पवञ्चुपेइ, अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि॥

सू० १, ७ : ३०

हनन किया जाता हुआ साधु छिलीजाती हुई लकड़ीकी तरह राग द्वेष रहित होता है। वह शान्त भावसे मृत्युकी प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार कर्म क्षय करने वाला साधु उसी प्रकार भव-प्रपञ्चमें नहीं पड़ता जिस प्रकार गाड़ी धुरा टूटने पर आगे नही चलती।

२५ : ब्रह्मचर्य और मुनि

१—अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

द० ६ : १६

चरित्रको भंग करनेवाली बातोंसे सदा सशंक रहनेवाला मुनि इस लोकमें प्रमादके घर, घोर दुष्परिणामवाले और असेव्य अब्रह्मचर्यका सेवन नहीं करते।

२—मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

द० ६ : १७

अब्रह्मचर्य अधर्मका मूल और महा दोषोंकी जन्म-भूमि है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि सब प्रकारके मैथुन-संसर्गका त्याग करते हैं।

३—जउ कुम्भे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते नासमुवयाइ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण नासमुवयंति ॥

सू० १, ४ । १ : २६

जैसे अग्निके पास रखा हुआ लाहका घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाशको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियोंके सहवाससे अनगारका संयम रूपी जीवन नाशको प्राप्त हो जाता है।

४—कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहावि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ।।
उत्त० ३२ : १६

मन, वचन और कायासे गुप्त जिस परम संयमीको विभूषित देवाङ्गनाएँ भी कामसे विह्वल नहीं कर सकतीं ऐसे मुनिके लिए भी एकान्तवास ही हितकर जान स्त्री आदिसे रहित एकान्त स्थानमें निवास करना ही श्रेष्ठ है।

५—मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ।।
उत्त० १६ श्लो० २

ब्रह्मचर्यमें अनुरक्त मुनि मनको चंचल करनेवाली और विषय रागको बढ़ानेवाली स्त्री-कथा न करे।

६—समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ।।
उत्त० १६ श्लो० ३

स्त्रियोंकी संगतिसे, उनके साथ परिचय बढ़ानेसे और उनसे बार बार बातचीत करनेसे ब्रह्मचारी हमेशा बचे।

७—पणिअं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ।।
उत्त० १६ श्लो० ७

ब्रह्मचारी भिक्षु विषय विकारको शीघ्र बढ़ानेवाले मसालेदार खान पानसे हमेशा दूर रहे।

८—धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया।
उत्त० १६ श्लो० ८

ब्रह्मचारी गोचरीमें धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन यात्राके निर्वाहके लिए ही नियत समय और मित मात्रामें ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रामें आहारका सेवन न करे।

९—विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

द० ८ : ५७

विभूषा, स्त्री-संसर्ग तथा प्रणीत रसदार भोजन आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विषकी तरह होता है।

१०—न रूवलावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगिय पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

उत्त० ३२ : १४

तपस्वी श्रमण, स्त्रियोंके रूप, लावण्य, विलास, हास, प्रिय भाषण, संकेत और कटाक्षपूर्ण दृष्टिपातको चित्तमें स्थान न दे और न स्त्रियों को देखनेकी अभिलाषा करे।

११—विभूसं परिवज्जिज्जा, सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

उत्त० १६ श्लो० ९

ब्रह्मचारी विभूषा और बनाव ठनावको छोड़ दे। वह वस्त्रादि कोई भी वस्तु शृंगार—शोभा—के लिए धारण न करे।

१२—नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो।
मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारियं॥

द० ६ : ६५

नग्न, मुण्ड, दीर्घरोम और नखवाले तथा मैथुनसे उपशांत अनगारको विभूषासे क्या मतलब ?

१३—धम्मारामे चरे भिक्खू, धितिमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते, बंभचेरसमाहिए॥

उत्त० १६ श्लो० १५

धर्मवान और धर्मरूपी रथको चलानेमें सारथी समान भिक्षु धर्मरूपी बगीचेमें विहार करे। धर्मरूपी बगीचेमें आनन्दित रह इन्द्रियों को दमन करता हुआ भिक्षु ब्रह्मचर्यमें समाधि प्राप्त करे।

२६ : अपरिग्रह और मुनि

१—लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निही कामे, गिही पव्वइए न से ॥

द० ६ : १६

संग्रह करना लोभका अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी भी वस्तुके संग्रहकी कामना करता है वह गृहस्थ है—साधु नहीं, ऐसा मैं मानता हूं।

२—जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

द० ६ : २०

वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी हैं उन्हें मुनि संयम की रक्षाके लिए ही रखते और उपयोग करते हैं।

३—सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥

द० ६ : २२

बुद्ध पुरुष आवश्यक वस्तुओंको एक मात्र संयमकी रक्षाके लिए ही रखते हैं। अधिक क्या—वे अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नहीं रखते।

४—संनिहिं च न कुविज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए॥

द० ८ : २४

संयमी मुनि अणुमात्र भी संग्रह न करे। वह मुधाजीवी, गृहस्थों के साथ असंबद्ध और जगत्के सर्व जीवोंकी रक्षा करनेवाला हो।

५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चाणं जिणसासणं॥

द० ८ : २५

भिक्षु रूक्षवृत्ति, सुसंतुष्ट, अल्प इच्छावाला और थोड़े आहारसे तृप्त होनेवाला हो। जिनशासन को सुन वह कभी असुरवृत्तिको धारण न करे।

६—अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अण्णाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पेज्ज पण्णवं॥

उत्त० २ : ३९

कषाय रहित, अल्पेच्छ, अज्ञातगोचरी करनेवाला, अलोलुप और प्रज्ञावान् साधु रसमें गृद्धिभाव न रक्खे और न दूसरोंके सत्कारको देख कर अनुताप करे।

७—वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा॥

द० १ : ४

हम इस तरहसे भिक्षा प्राप्त करेंगे जिससे कि किसी जीवका हनन न हो। जिस तरहसे भ्रमर पुष्पोंके पास जाते और मधुसंचय करते हैं उसी तरह से गृहस्थोंके घर स्वतः बने आहारमें से हम थोड़ा ग्रहण करेंगे।

८—महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाना पिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥

द १ : ५

बुद्ध पुरुष मधुकरके समान अनाश्रित होते हैं जो अनेक घरोंसे थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करनेमें संतुष्ट और जितेन्द्रिय होते हैं वे अपने इन्हीं गुणोंके कारण साधु कहलाते हैं।

२७ : महाव्रत

१—जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णो वि घायए॥

द० ६ : १०

इस लोकमें जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रंथ उन्हें जान या अजानमें न मारे और न मरावे।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

द० ६ : ११

सभी जीव जीनेकी इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। अतः निर्ग्रंथ निर्दय प्राणिवधका सर्वथा त्याग करते हैं।

२—वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए॥

द० ७ : ५

बाह्य रूपमें सत्य बोलनेवाला भी यदि यथार्थमें असत्यभाषा बोलता है, तो इससे भी वह मनुष्य पापसे स्पृष्ट होता है; फिर जो जानबूझकर झूठ बोलता है, उसके पापबंध हो इसमें कहना ही क्या ?

३—आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिण्णं भुंजिज्ज भोयणं॥

उत्त० ६ : ८

बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें नरक देखकर, तृणमात्र भी विना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए। पापसे घृणा करनेवाला मुनि गृहस्थों द्वारा अपने पात्रमें दिए हुए भोजनका आहार करे।

४—संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं॥
एअमादाय मेहावी, पंकभूआ उ इत्थीओ।
नो ताहिं विणिहणेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए॥

उत्त० २ : १६, १७

इस लोकमें स्त्रियां मनुष्यके लिए संग—बन्धन रूप—हैं, जिसने यह जान लिया उसका श्रामण्य—साधुभाव—सुकृत है—सफल है। स्त्रियां पंक—कादे—के समान हैं, यह जानकर बुद्धिवान पुरुष अपने संयमको उनके द्वारा हनन न होने दे। मुनि सदा आत्म-गवेषणा में रत रहे।

५—संनिहिं च न कुविज्जा, लेवमायाइ संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वए॥

उत्त० ६ : १६

संयमी मुनि लेश मात्र भी संचय न करे। पात्र रूपी पांखोंको ले एक पक्षीकी तरह वह निरपेक्ष होकर विचरे।

हिरण्णं जायरूवं च, मणसाऽवि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए॥

उत्त० ३५ : १३

अनगार सोने-चांदी आदि वस्तुओंकी मनसे भी इच्छा न करे। लोष्ठ और काञ्चनको एक समान देखनेवाला भिक्षु क्रय-विक्रयसे विरत हो।

६—अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्व बुद्धेहिं वण्णियं ।
जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ।।
द० ६ : २३

अहो ! साधु पुरुषोंके लिए यह कैसा सुन्दर नित्य तपकर्म है जो उन्हें संयम निर्वाह भरके लिए और केवल दिनमें ही भोजन करना होता है । सब ज्ञानियोंने इस रात्रि भोजन विरमण रूप व्रतका वर्णन किया है ।

संति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ।।
द० ६ : २४

संसारमें बहुतसे त्रस और स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि साधु द्वारा रात्रिमें नहीं देखे जा सकते । फिर वह रात्रिमें किस प्रकार एषणीय—निर्दोष आहारको भोग सकेगा ?

२८ : तितिक्षा

१—छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेअणा।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबंधपरिषहा।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया[1] ॥

उत्त० १६ : ३२-३३

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमच्छरके डंक, आक्रोश—कटुवचन, दुःखदशय्या, तृणस्पर्श, मल, ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन, भिक्षाचर्या, याचना और अलाभ—ये सब परिषह दुःसह हैं।

२—दिगिंछा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं।
ण छिंदे ण छिंदावए, ण पए ण पयावए ॥
कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायण्णे असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥

उत्त० २ : २-३

१—परिषह २२ माने जाते हैं। देखिये उत्त० अ० २। निम्न परिषह उपरोक्त गाथाओंमें नहीं आए :—अचेलक परिषह, अरति परिषह स्त्री परिषह, नैषेधिकी, रोग परिषह, सत्कार-पुरस्कार परिषह, प्रज्ञापरिषह, अज्ञान परिषह, और दर्शन परिषह। इन गाथाओंमें आए ताड़न, तर्जन, और बन्धन नामक परिषह उत्त० अ० २ में बताए गये २२ परिषहके उपरांत हैं।

शरीर क्षुधासे व्याप्त हो जाय, बाहु जंघा आदि अंग कौएकी जांघ के मध्य भागकी तरह पतले—कृश—हो जांय और शरीर नशोंसे व्याप्त दीखने लगे तो भी आहार पानीके प्रमाणको जाननेवाला भिक्षु मनोबल रखे और अदीन भावसे संयमका पालन करे। वह स्वयं फलादिका छेदन न करे, न दूसरोंसे करावे। न स्वयं अन्नादि पकावे, न दूसरोंसे पकवावे।

३—तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं ण सेविज्जा, विअडस्सेसणं चरे॥
छिण्णावाएसु पंथेसु, आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहेऽदीणे, तं तितिक्खे परिषहं॥

उत्त० २ : ४, ५

निर्जन पथमें अत्यन्त तृषासे आतुर—व्याकुल—हो जाने और जिह्वाके सूख जाने पर भी भिक्षु प्यासपरिषहको अदीन मनसे सहन करे। ऐसी तृषामे व्याप्त होने पर भी अनाचारसे भयभीत और संयममें लज्जाशील भिक्षु शीतोदकका सेवन न करे। विकृत—अचित्त—जलकी गवेषणा करे।

४—ण मे णिवारणं अत्थि, छवित्ताणं ण विज्जए।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू ण चिंतए॥
उसिणप्परिआवेणं, परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परिआवेणं, सायं णो परिदेवए॥
उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं णो वि पत्थए।
गायं णो परिसिंचेज्जा, ण वीएज्जा य अप्पयं॥

उत्त० २ : ७, ८, ६

शीत निवारणके लिए मेरे घरादि नहीं तथा शरीरके त्राणके लिए

वस्त्रादि नहीं, अतः मैं अग्निका सेवन करू—भिक्षु ऐसा कभी भी न सोचे।

ग्रीष्म ऋतु, बालू आदि उष्ण पदार्थोंके परिताप, अन्तरदाह और सूर्यके आताप द्वारा तर्जित साधु, मुझे वायु आदिका सुख कब होगा, ऐसी इच्छा न करे।

गर्मीसे परितप्त होने पर भी मेधावी भिक्षु स्नानकी इच्छा न करे। शरीरको जलादिसे न सींचे—और न पंखी आदिसे जरा भी हवा ले।

५—पुट्ठो अ दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
णागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं॥
ण संतसे ण वारिज्जा, मणं पि ण पओसए।
उवेह ण हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिअं॥

उत्त० अ० २ : १०, ११

डांस और मच्छरों द्वारा स्पृष्ट होने—पीड़ित किए जाने—पर भी महामुनि समभाव रखे। संग्रामके मोर्चे पर जिस तरह नाग शत्रु का हनन करता है, उसी तरह शूरवीर साधु राग-द्वेष रूपी शत्रुका हनन करे।

मुनि डांस मच्छर आदिको भय उत्पन्न न करे, उन्हें दूर न हटावे और न मनमें भी उनके प्रति द्वेषभाव आने दे। मांस और शोणितको खा रहे हों तो भी उपेक्षा करे और उन्हें न मारे।

६—अक्कोसिज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होई बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले॥
सोच्चा णं फरुसा भाषा, दारुणा गामकंटया।
तुसिणीओ उवेहिज्जा, न ताओ मणसी करे॥

उत्त० अ० २ : २४, २५

दूसरोंसे दुर्वचन द्वारा आक्रोश किए जाने पर—तिरस्कार किए जाने पर—भिक्षु उन पर कोप न करे। कोप करनेसे भिक्षु भी उस मूर्खके समान हो जाता है; अतः भिक्षु प्रज्वलित—कुपित न हो।

भिक्षु कानोंमें कांटोंके समान चुभनेवाली अत्यन्त कठोर भाषाको सुनने पर मौन रह उपेक्षा करे, और उसे मनमें स्थान न दे।

७—उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं णिहण्णेज्जा, पावदिट्ठी विहण्णइ॥
पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं।
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थ हिआसए॥

उत्त० २ : २२, २३

तपस्वी भिक्षु अच्छे-बुरे स्थानके मिलने पर उसे सह ले। समभाव रूपी मर्यादाका उल्लंघन कर संयमकी घात न करे। पापदृष्टि भिक्षु सयम-रूपी मर्यादाका उल्लंघन कर देता है।

अच्छे हो या बुरे रिक्त उपाश्रयको पाकर भिक्षु यह विचार करता हुआ कि एक रातमें यह मेरा क्या कर लेगा, उसे समभावसे सहन करे।

८—किलिण्णगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए॥
वेएज्ज निज्जरापेही, आरिअं धम्ममणुत्तरं।
जाव सरीरभेओ त्ति, जल्लं काएण धारए॥

उत्त० २ : ३६, ३७

ग्रीष्मादिमें अति गरमीसे पसीनेके कारण शरीर मैल अथवा रजसे लिप्त हो जाय तोभी मेधावी साधु सुखके लिए दीनभाव न लावे। सर्वोत्तम आर्य धर्मको प्राप्त कर निर्जराका अर्थी भिक्षु इस परिषहको

सहन करे और शरीर छोड़ने तक मैलको शरीर पर समभावपूर्वक धारण करे।

९—हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खुधम्मं विचिंतए॥
समणं संजय दंतं, हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहिज्ज संजए॥

उत्त० २ : २६, २७

मारे जाने पर साधु क्रोध न करे। मनमें भी द्वेष न लावे। तितिक्षा परम धर्म है, ऐसा सोचकर वह भिक्षुधर्मका चिंतन करे। यदि कोई कहीं पर संयत दमेन्द्रिय श्रमणको मारे तो वह संयमी भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि जीवका कभी नाश नहीं होता।

१०—दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइअं होई, नत्थि किंपि अजाइअं॥
गोअरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए॥

उत्त० २ : २८, २९

हे शिष्य! घर रहित भिक्षुके पास सब कुछ मांगा हुआ होता है। उसके पास कुछ भी अयाचित नहीं होता। निश्चय ही नित्य की याञ्चा दुष्कर है।

भिक्षाचरीके लिए गृहस्थके घरमें प्रविष्ट भिक्षुके लिए हाथका पसारना सहज नहीं होता, इससे 'गृहवास ही अच्छा है'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे।

११—परेसु घासमेसिज्जा, भोअणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा, नाणुतप्पिज्ज संजए॥

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुवे सिआ ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥
उत्त० २ : ३०, ३१

गृहस्थोंके घर भोजन तैयार हो जाने पर भिक्षु आहारकी गवेषणा करे। आहारके मिलने या न मिलने पर विवेकी भिक्षु हर्ष-शोक न करे। 'आज मुझे नहीं मिला तो क्या ? कल मिलेगा'—जो भिक्षु इस प्रकार विचार करता है, उसे अलाभ परिषह कष्ट नहीं देता।

१२—परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खु ण चिंतए ॥
एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एअं धम्महिअं णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥
उत्त० २: १२, १३

जीर्ण वस्त्रोंके कारण मैं अचेलक हो जाऊंगा अथवा मैं वस्त्र सहित सचेलक बनूंगा—भिक्षु ऐसा चिंतन—हर्ष-शोक—न करे। भिक्षु एकदा—कभी—अचेलक हो जाता है और कभी सचेलक। इन दोनों अवस्थाओंको धर्ममें हितकारी जानकर ज्ञानी मुनि चिंता न करे।

१३—णच्चा उप्पइअं दुक्खं, वेअणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पण्णं, पुट्ठो तत्थ हिआसए ॥
तेगिच्छं नाभिणंदिज्जा, संचिक्खत्तगवेसए।
एअं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥
उत्तराध्ययन अ० २ : ३२, ३३

रोगको उत्पन्न देखकर उसकी वेदनासे दुखार्त्त भिक्षु अदीनभाव से 'ये मेरे ही कर्मोंका फल है'—ऐसी प्रज्ञामें अपनेको स्थिर करे। रोग द्वारा आक्रांत होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करे। आत्म

गवेषी भिक्षु चिकित्साकी अनुमोदना न करे। समाधिपूर्वक रहे। श्रमणका श्रमणत्व इसीमें है कि वह चिकित्सा न करे और न करावे।

१४—निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥
उत्त०२ : ४२

'मैंने निरर्थक ही मैथुन आदिसे निवृति ली और इन्द्रियोंको संवृत किया है, जो छद्मस्थभावको दूर कर साक्षात् कल्याण अथवा पाप कारी धर्मको नहीं जान सकता'—भिक्षु ऐसा विचार कभी भी न करे।

१५—से नूणं मए पुव्विं, कम्माऽनाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥
अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽनाणफला कडा।
एवमासासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥
उत्त० २ : ४०, ४१

कहीं पर किसीके द्वारा पूछे जाने पर जो मै उसका उत्तर नहीं जानता—यह निश्चय ही पूर्वमें मैंने जो अज्ञान फलवाले कर्म किये हैं, उन्हींका फल है। 'अज्ञान फलके देनेवाले कृत कर्मोंका फल बादमें उदयमें आता हैं'—भिक्षु कर्मके विपाकको जानकर अपनी आत्माको इसी तरह आश्वासन दे।

१६—नारई सहई वीरे, वीरे न सहई रइं।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जई।
आ० १, २। ६

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए।
धम्मारामेणिरारंभे उवसंते मुणि चरे ॥
उत्त० २ : १५

वीर पुरुष धर्ममें उत्पन्न अरुचि भावको सहन नहीं करता और न असंयममें उत्पन्न रुचिभावको सहन करता है। वीर साधक जिस तरह धर्मके प्रति उदासीन वृतिवाला नहीं होता, उसी तरह वह अधर्म के प्रति रागवृतिवाला भी नहीं होता।

हिंसादिसे विरत, निरारम्भी, उपशांत और आत्मरक्षक मुनि, अरति—संयमके प्रति अरुचिभावको हटाकर धर्मरूपी उद्यानमें विचरे—रमण करे।

३ : दर्शन पद :

१ : सम्यक्त्व-सार

१—नत्थि लोए अलोए वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए॥

ऐसी संज्ञा—विश्वास—मत रक्खो कि लोक और अलोक नही है पर विश्वास रक्खो कि लोक और अलोक हैं।

२—नत्थि जीवा अजीवा वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए॥

ऐसी संज्ञा—विश्वास—मत रक्खो कि जीव और अजीव नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि जीव और अजीव हैं।

३—नत्थि पुण्णे व पावे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि पुण्य और पाप नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि पुण्य और पाप है।

४—नत्थि आसवे संवरे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि आश्रव और संवर नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि आश्रव और संवर हैं।

५—नत्थि वेयणा निज्जरा वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि वेदना कर्म-फल—और निर्जरा नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि कर्म-फल और निर्जरा हैं।

६—नत्थि बन्धे व मोक्खे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि बन्ध और मोक्ष नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि बन्ध और मोक्ष हैं।

७—नत्थि धम्मे अधम्मे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा एवं सन्नं निवेसए॥

ऐसी संज्ञा मत रक्खो कि धर्म और अधर्म नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि धर्म और अधर्म हैं।

८—नत्थि किरिया अकिरिया वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि क्रिया और अक्रिया नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि क्रिया और अक्रिया हैं।

९—नत्थि कोहे व माणे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि क्रोध और मान नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि क्रोध और मान है।

१०—नत्थि माया व लोभे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि माया और लोभ नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि माया और लोभ है।

११—नत्थि पेज्जे व दोसे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि राग और द्वेष नहीं हैं, पर विश्वास रक्खो कि राग और द्वेष हैं।

१२—नत्थि चाउरन्ते संसारे नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि चाउरन्ते संसारे एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि चार गति रूप संसार नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि चार गति रूप संसार है।

१३—नत्थिसिद्धी असिद्धी वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि मोक्ष और अमोक्ष नही हैं, पर विश्वास रक्खो कि मोक्ष और अमोक्ष हैं।

१४—नत्थि सिद्धी नियं ठाणं नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि सिद्धि—सिद्धोंका निर्दिष्ट—स्थान नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि सिद्धि—सिद्धोंका निर्दिष्ट स्थान—है।

१—सूत्रकृतांग सूत्र श्रु० २।५: १२, १३, १६, १७, १८, १५, १४, १९, २०, २१, २२, २३, २५, २६

२ : लोक और द्रव्य

१—जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए॥

उत्त० ३६ : २

आकाशके उस भागको, जिसमें जीव अजीव दोनों हैं, लोक कहा गया है और उस भागको, जहां केवल आकाश है और कोई जीव अजीव द्रव्य नहीं, उसे अलोक कहा गया है।

२—धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

उत्त० २८ : ७

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये पांच अजीव और छट्ठा जीव ये छः द्रव्य हैं। यह लोक छः द्रव्यात्मक है, ऐसा ही श्रेष्ठ दर्शनके धारक जिन भगवान ने कहा है।

३—गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे॥

उत्त० २८ : ६

गुण जिसके आश्रित होकर रहें—जो गुणोंका आधार हो—उसे द्रव्य कहते हैं। किसी द्रव्यको आश्रय कर जो रहें वे गुण हैं तथा द्रव्य और गुण दोनोंके आश्रित होना पर्यायका लक्षण है।

४—गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥

उत्त० २८ : ९

पदार्थोंकी गतिमें सहायक होना यह धर्मका लक्षण है; उनकी स्थितिमें सहायक होना यह अधर्म द्रव्यका लक्षण है और सर्व द्रव्योंको अपनेमें अवकाश—स्थान देना—यह आकाशका लक्षण है।

५—वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरिअं उवओगो अ, एअं जीवस्स लक्खणं ॥

उत्त० २८ : १०, ११

पदार्थोंके वर्तनमें सहायक होना यह काल का लक्षण है। जीवका लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःखसे व्यक्त होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीवके लक्षण हैं।

६—सद्दऽन्धार—उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥

उत्त० २८ : १२

शब्द, अन्धकार, उद्योत—प्रकाश, प्रभा, छाया, धूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये पुद्गलके लक्षण हैं।

७—एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

उत्त २८ : १३

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संजोग और विभाग ये पर्यायोंके लक्षण हैं।

३ : अजीव

१—रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा भवे ।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा ॥

अजीव दो प्रकारके होते हैं—रूपी और अरूपी । अरूपी अजीव दस प्रकारके कहे गए हैं और रूपी अजीव चार प्रकार के ।

२—धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥

उत्त० ३६ : ५,६

धर्मास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश; अधर्मास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश;

आकाशास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश और अद्धा समय—काल ये सब मिलाकर अरूपी अजीवके दस भेद होते हैं ।

३—खंधा य खन्ध देसा य, तप्पएसा तहेव य ।
परमाणुणो य बोधव्वा, रूविणो य चउव्विहा ॥

३६ : १०

स्कंध—समूची पुद्गलास्तिकाय, उसका देश, उसका प्रदेश और परमाणु ये रूपी अजीव पदार्थके चार भेद जानना ।

४—धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणन्ताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजन्तवो॥

उत्त २८ : ८

धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त हैं।

५—धम्माधम्मे य दोवेए, लोगमित्ता वियाहिया।
लोआलोए य आगासे, समए समयखेत्तिए॥

उत्त० ३६ : ७

धर्म और अधर्म ये समूचे लोकमें व्याप्त हैं। आकाश लोक अलोक दोनोंमें विस्तृत—फैला हुआ—है और समय समयक्षेत्रमें फैला हुआ है।

६—एगत्तेण पुहत्तेणं, खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ॥

उत्त० ३६ : ११

जब परमाणु एकत्रित होते हैं तो स्कंध रूप होते हैं और अलग-अलग होते हैं तो परमाणु रूप। क्षेत्रकी अपेक्षासे परमाणु लोकके एक प्रदेश मात्रमें और स्कंध एक प्रदेश या समूचे लोकमें व्याप्त हैं।

७—धम्माधम्मागासा, तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया॥

उत्त० ३६ : ८

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों द्रव्य कालकी अपेक्षा अनादि और अनन्त हैं अर्थात् सदा काल शाश्वत है—ऐसा कहा गया है।

८—समए वि सन्तइं पप्प, एवमेव वियाहिए।
आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिया वि य ॥

उत्त० ३६ : ६

समय—काल—भी निरन्तर प्रवाहकी अपेक्षासे अनादि और अनन्त हैं परन्तु किसी कार्यकी अपेक्षासे सादि और अन्त सहित है।

६—संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥

उत्त० ३६ : १२

प्रवाहकी अपेक्षासे पुद्गल अनादि और अनन्त हैं परन्तु रूपान्तर और स्थितिकी अपेक्षासे सादि और सांत है।

१०—असंख्यकालमुक्कोसं, एगो समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई ऐसा वियाहिया ॥

उत्त० ३६ : १३

एक स्थानमें रहनेकी अपेक्षासे रूपी अजीव पुद्गलोंकी स्थिति कम से कम एक समय और अधिकसे अधिक असंख्यात कालकी बतलाई है।

११—अणंतकालमुक्कोसं, एगं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, अन्तरेयं वियाहियं ॥

उत्त० ३६ : १४

अजीव रूपी पुद्गलोंके अलग-अलग होकर फिरसे मिलनेका अंतर कमसे-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अनन्त काल कहा गया है।

१२—वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥

उत्त० ३६ : १५

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान (आकार) इनकी अपेक्षासे पुद्गलोंके परिणाम—अवस्थान्तर भेद—पांच प्रकारके होते हैं।

४ : सिद्ध जीव

१—संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेग विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ।।

उत्त० ३६ : ४८

जीव दो तरहके बताए हैं—(१) संसारी और (२) सिद्ध। सिद्ध जीव अनेक प्रकारके कहे हैं। मैं उन्हें बतलाता हूं सुनो।

२—इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ।।
उक्कोसागाहणाए य, जहन्न मज्झिमाइ य।
उड्ढे अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य ।।

उत्त० ३६ : ५०, ५१

स्त्री शरीरसे, पुरुष शरीरसे, नपुंसक शरीरसे, जैन साधुके वेशमे, अन्य दर्शनके साधुके वेशमें और गृहस्थके वेशमें सिद्ध हुए जीव--इस तरह सिद्ध जीव अनेक प्रकारके हैं। अधिकसे अधिक कदवाले, कमसे कम कदवाले और मध्यम कदवाले इस तरह सब शरीरवाले जीव सिद्ध हो सकते हैं और इसी तरह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मनुष्यलोक आदि वाले जीव तीरछे लोकसे, समुद्र या अन्य जल-स्थानसे सिद्ध हो सकते हैं।

३—अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोन्दिं चइत्ता णं, तत्थ गन्तूण सिज्झई ॥

उत्त० ३६ : ५६, ५७

सिद्ध इस लोकमें शरीर त्याग कर—यहीं पर सिद्ध होकर, स्वभाविक उर्ध्वगतिसे लोकके अग्रभाग पर जाकर स्थिर होते हैं—वहीं अटक जाते हैं। इससे आगे अलोकमें नहीं जा पाते।

४—तत्थ सिद्धा महाभागा, लोग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंचउ मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥

उत्त० ३६ : ६४

महा भाग्यवंत सिद्ध पुरुष भव प्रपंचसे मुक्त हो, श्रेष्ठ सिद्धगतिको पाकर लोकके अग्रभाग—अन्तिम छोर पर स्थिर होते हैं।

५—उस्सेहो जेस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि अ।
तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥

उत्त० ३६ : ६५

चरम भवमें जीवका जो कद—शरीर-ऊँचाई होती है, उसके तीन भागके एक भागको छोडकर जो ऊंचाई रहती है वही उस सिद्ध जीवका कद—ऊंचाई रहती है।

६—एगत्तेणं साईया, अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया, अपज्जवसिया वि य ॥

उत्त० ३६ : ६६

एक जीवकी अपेक्षासे मोक्ष सादि और अंत रहित है। समूचे समुदायकी दृष्टिसे मोक्ष आदि और अंत रहित है।

७—अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहंसंपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥

उत्त० ३६ : ६७

ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवघन हैं। ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है। जिसकी उपमा नहीं ऐसे अतुल सुखसे ये संयुक्त होते हैं।

८—लोएगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया॥

उत्त० ३६ : ६८

सर्व सिद्ध जीव लोकके एक देश—भाग विशेषमें बसते हैं। ये केवलज्ञान और केवलदर्शनमय स्वरूपवाले हैं। ये संसारको पारकर उत्तम सिद्ध नामा गतिको पहुंचते हैं।

५ : संसारी जीव

१—संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते विआहिआ ।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ।।

उत्त० ३६ : ६८

जो संसारी जीव है, वे दो प्रकारके कहे गए हैं—त्रस और स्थावर। स्थावर तीन प्रकारके हैं।

२—पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।
इच्चेते थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ।।

उत्त० ३६ : ६९

पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव और वनस्पतिकायिक जीव—इस तरह स्थावर जीव तीन प्रकारके हैं, जिनके भेद मुझसे सुनो।

३—दुविहा पुढवी जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेए दुहा पुणो ।।

उत्त० ३६ : ७०

पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकारके हैं—सूक्ष्म और बादर और इनमें से प्रत्येक पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो तरहके हैं।

किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा ।
पण्डु पणगमट्टिआ, खरा छत्तीसई विहा ।।
पुढवी य सक्करा बालुगा य, उवले सिला य लोणूसे ।
अय तंब तउय सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ।।

उत्त० ३६ : ७२, ७३

कृष्ण, नीली, लाल, पीली, श्वेत, पांडु तथा पनक मिट्टी—ये श्लक्षण—बादर कोमल पृथ्वीकायके सात भेद हैं। बादर खर—कठिन पृथ्वीकायके छतीस भेद हैं। यथा पृथ्वी, कंकड़, बालु, उपल, शिला, लवण, खारी मिट्टी, लोह, तरुआ, ताम्बा, सीसा, चांदी, सोना, ब्रज आदि आदि। सूक्ष्म पृथ्वीकायजीव नाना भेदोंसे रहित एक ही प्रकारके होते हैं।

४—दुविहा आउ जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो॥

उत्त० ३६ : ८४

अप्काय जीवोंके सूक्ष्म बादर इस प्रकार दो भेद हैं। इन दोनोंमें से प्रत्येकके फिर पर्याप्त अपर्याप्त ये दो भेद हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिआ।
सुद्धोदए अ उस्से, हरतणू महिआहिमे॥

उत्त० ३६ : ८५

जो बादर पर्याप्त अप्जीव हैं वे पांच प्रकारके कहे गए हैं—(१) मेघका जल, (२) ओस, (३) हरतनु (४) धुंअर और (५) बर्फ। सूक्ष्म नाना भेदोंसे रहित—एक प्रकारके होते हैं।

५—दुविहा वणस्सई जीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते विआहिआ।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य॥
पत्तेअसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिआ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा॥

साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिआ।
आलूए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य॥

उत्त० ३६ : ९२, ९३, ९४, ९८

वनस्पति जीव सूक्ष्म और बादर—इस तरह दो प्रकारके होते हैं। इनमेंसे प्रत्येक फिर पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो तरहके होते हैं।

जो बादर पर्याप्त हैं वे दो प्रकारके कहे गए हैं—(१) साधारण शरीरी और (२) प्रत्येक शरीरी

वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, वलय आदि इस तरह प्रत्येक शरीरी वनस्पति जीव अनेक प्रकारके कहे गए है।

साधारण शरीरी वनस्पति जीव भी अनेक प्रकारके कहे गए हैं—जैसे आलू, मूला, शृंगवेर और हरिली आदि।

६—तेउ वाऊ अ बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेते तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे।

उत्त० ३६ : १०७

त्रस जीव तीन प्रकारके हैं—तेजस्, वायु और प्रधान त्रस। इनके उपभेद मुझसे सुनो।

७—दुविहा तेउ जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते पकित्तिआ।
अंगारे मुम्मुरे अगणी, अच्चि जाला तहेव य॥

उत्त० ३६ : १०८-९

तेजस्कायके जीव दो प्रकारके होते है—सूक्ष्म और बादर। पर्याप्त बादर तेजस्कायके जीव अनेक प्रकारके कहे गये हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उलका, विद्युत आदि। सूक्ष्म तेजस्जीव नाना भेदोंसे रहित—एक ही प्रकारके—होते हैं।

८—दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ।।
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया, घण गुंजा सुद्धवाया य ।।

उत्त० ३६ : ११७-१८

वायु जीव दो प्रकारके हैं— सूक्ष्म और बादर। इनमेंसे प्रत्येक पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो प्रकारके होते हैं। पर्याप्त बादर वायुजीव— पांच प्रकारके कहे गये हैं—उत्कालिका, मांडलिका, घन, गुंजा, और शुद्ध वायु। सूक्ष्म वायुजीव नाना भेद रहित—एक प्रकारके हैं।

९—उराला य तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिआ।
बेइंदिअ तेइंदिअ, चउरो पंचिंदिया चेव ।।

उत्त० ३६ : १२६

उदार त्रस जीव—चार प्रकारके कहे गये है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

१०—बेइंदिआ उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ।।
किमिणो मंगला जेव, अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीआ, संखा संखणया तहा ।।

उत्त० ३६ : १२७-२८

त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके कहे गए हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अब उनके उपभेद मुझसे सुनो। कृमि, सुमंगल, अलसिया, मातृ-वाहक—घुण, वासीमुख, सीप, शंख, छोटे शंख, पल्लक आदि—द्वीन्द्रिय—जीव अनेक प्रकार हैं।

११—तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥
कुंथू पिपीलि उद्दंसा, उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारकट्ठहारा, मालुगा पत्तहारगा॥
उत्त० ३६ : १३६-३७,

त्रीन्द्रिय जीव—दो प्रकारके कहे गये है—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके प्रभेद मुझसे सुनो। कुंथू, चींटी, उद्दश, उपदेहिक, तृणहार, काष्ठहारक, मालुगा, पत्रहारक आदि अनेक तरहके त्रीन्द्रिय जीव हैं।

१२—चउरिंदिआ उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥
अंधिआ पोत्तिआ चेव, मच्छिआ मसगा तहा।
भमरे कीडपयंगे अ, ढिंकुणे कुंकुणे तहा॥
उत्त० ३६ : १४५-४६

चतुरिन्द्रिय जीव पर्याप्त अपर्याप्त भेदमे दो प्रकारके कहे गये है। चतुरिन्द्रिय जीवके प्रकार मुझसे सुनो। अन्धिक, पौतिक मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट, पतंग, ढिकण, कुकण आदि अनेक तरह के चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं।

१३—पंचेंदिआ उ जे जीवा, चउव्विहा ते विआहिआ।
नेरइआ तिरिक्खा य, मणुआ देवा य आहिआ॥
उत्त० ३६ : १५५

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकारके कहे गये है—(१) नैरयिक, (२) तिर्यक्, (३) मनुष्य और (४) देव।

१४—नेरईआ सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभसक्कराभा, वालुआभा य आहिआ॥

पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इति नेरइआ एते, सत्तहा परिकित्तिआ ॥

उत्त० ३६ : १५६-७

नैरयिक जीव सात प्रकारके सात पृथिवयोंमे होते हैं। रत्नाभा, शर्कराभा, वालुकाभा, पंकभा, धूमाभा, तमा, तमस्तमा—इन सात भेदोंसे नैरयिक सात प्रकारके कहे गए है।

१५—पंचिंदिअतिरिक्खा उ, दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खा य, गब्भवक्कंतिआ तहा ॥

उत्त० ३६ : १७०

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च दो प्रकारके कहे गये हैं—सम्मूच्छिम और गर्भव्युत्क्रान्त।

१६—मणुआ दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।
सम्मुच्छियम मणुस्सा य, गब्भवक्कंतिया तहा ॥

उत्त० ३६ : १९३

मनुष्योंके दो भेद हैं। मनुष्य सम्मूच्छिम और गर्भ व्युत्क्रान्त—दो तरहके होते हैं।

१७—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्जवाणमंतर, जोइसवेमाणिआ तहा ॥

उत्त० ३६ : २०२

देव चार प्रकारके हैं, उनका वर्णन मुझसे सुनो। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ये चार देवोंके भेद हैं।

६ : कर्मवाद*

१—नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउं नियय्स्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं ॥

उत्त० १४ : १९

आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। अज्ञान आदि कारणोंसे ही आत्माके कर्म-बन्धन है और कर्म-बन्धन ही संसारका कारण कहलाता है।

२—अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहाक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टई ॥

उत्त० ३३ : १

जिन कर्मोंसे बन्धा हुआ यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है, वे संख्यामें आठ हैं। मैं यथाक्रम उनका वर्णन करूंगा।

३—नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥

---

* कर्मका अर्थ साधारण तौर पर क्रिया किया जाता है। परन्तु यहां पर कर्मका अर्थ क्रिया नहीं है। जैन परिभाषामें, क्रियासे आत्म प्रदेशोंके साथ जिन पुद्गल-स्कन्धोंका सम्बन्ध होता है, उन्हें कर्म कहते हैं। आत्माके साथ इस प्रकार बंधे हुए जड़ कर्म भिन्न-भिन्न प्रकृति व स्वभावके होते हैं। स्वभावके भेदसे कर्मोंके ज्ञानावरणीय आदि आठ वर्ग होते हैं।

नामकम्मं च गोत्तं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥

उत्त० ३३ : २, ३

(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म और (८) अन्तराय कर्म—ये संक्षेपमें आठ कर्म* हैं।

४—सव्वजीवा ण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बज्झगं॥

उत्त० ३३ : १८

सर्व जीव अपने आस-पास छवों दिशाओंमें रहे हुए कर्म पुद्गलों को ग्रहण करते हैं और आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ सर्व कर्मोंका सर्व प्रकारसे बंधन होता है।

५—जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्ठयं॥

सू० १, २। १ : ४

इस जगत्में जो भी प्राणी हैं, वे अपने-अपने संचित कर्मोंसे ही संसार-भ्रमण करते हैं और स्वकृत कर्मोंके अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियां पाते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मोंसे प्राणीका छुटकारा नहीं होता।

६—अस्सिं च लोए अदु वा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेयंति य दुन्नियाणि॥

सू० १, ७ : ४

---

* इन आठ कर्मोंके अर्थके लिए देखिए प्रकरणके अन्तमें क्रमशः टिप्पणी १ से ८

इसी जन्ममें अथवा पर जन्ममें कर्म फल देते हैं। किए हुए कर्म एक जन्ममें अथवा सहस्त्रों—अनेक भवोंमे भी फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किए गए हैं उसी तरहसे अथवा दूसरी तरहसे भी फल देते है। संसारमें चक्र काटता हुआ जीव कर्म वश बड़ेसे बड़ा दुख भोगता है और फिर आर्त्त ध्यान कर नये कर्मको बांधता है। बांधे हुए कर्मोंका फल दुर्निवार्य है।

७—कामेहि य संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जन्तवो।
ताले जह बन्धणच्चुए, एवं आयुक्खयम्मि तुट्टई॥
सू० १, २।१ : ६

जिस तरह बन्धनसे मुक्त हुआ ताल फल भूमि पर गिर पड़ता है, उसी तरह समय पाकर आयु शेष हो जाती हैं और कामभोग तथा सम्बन्धियोंमें आसक्त प्राणी अपने कर्मोंका फल भोगता है।

८—सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिण्डन्ति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिभिद्दुया॥
सू० १, २।३ : १८

सर्व प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार ही पृथक्-पृथक् योनियोंमें व्यवस्थित हैं। कर्मोंकी अधीनताके कारण अव्यक्त दुःखसे दुखित प्राणी जन्म, जरा और मरणसे सदा भयभीत रहते हुए चार गति रूप संसार-चक्रमें भटकते हैं।

९—तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मुक्खुअत्थि॥
उत्त० ४ : ३

जैसे पापी चोर खातके मुंह पर पकड़ा जाकर अपने कर्मोंके कारण ही दुःख उठाता है उसी तरहसे इस लोक या परलोकमें कर्मोंके फल

भोगने ही पड़ते हैं। फल भोगे बिना संचित कर्मोंसे छुटकारा नहीं हो सकता।

१०—तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो॥
उत्त० ३३ : २५

अत: इन कर्मोंके अनुभाग—फल देनेकी शक्तिको समझकर बुद्धिमान पुरुष नये कर्मोंके संचयको रोकनेमें तथा पुराने कर्मोंके क्षय करनेमें सदा यत्नवान रहे।

११—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मंच मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥
उत्त० ३२ : ७

राग और द्वेष ये दोनों कर्मके बीज हैं—कर्म मोहसे उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियोंका कथन है। कर्म जन्म-मरणका मूल है और जन्म-मरणको दु:खकी परम्परा कहा है।

१२—सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गए
दशाश्रुत स्कंध ५ : १४

जिस तरह मूल सूख जानेसे सींचने पर भी वृक्ष लहलहाता-हरा भरा नहीं होता है, इसी तरहसे मोह कर्मके क्षय हो जाने पर पुन: कर्म उत्पन्न नहीं होते।

१३—जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुणअंकुरा
कम्म बीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा
दशाश्रुत स्कंध ५ : १५

से कर्म-रूपी बीजोंके दग्ध हो जानेसे भव-अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

१४—जह जीवा बज्झंति मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति
जह दुक्खाण अंतं करेंति केई अपडिबद्धा
औपपातिक सू० ३४

जैसे कई जीव कर्मोंसे बंधते हैं, वैसे ही मुक्त भी होते हैं और जैसे कर्मोंके संचयसे महान कष्ट पाते हैं वैसे ही कर्मोंके क्षयसे दुःखोंका अन्त भी कर डालते हैं। अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थोंने ऐसा कहा है।

१५—अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति
जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति
औपपातिक सू० ३४

जैसे आर्त-रौद्र ध्यानसे विकल्प चित्तवाले दुःखसागरको प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैराग्यको प्राप्त हुए जीव कर्म-समूहको नष्ट कर डालते हैं।

१६—जह रागेण कडाण कम्माणं पावगो फलविवागो
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति
औपपातिक

जैसे राग (—द्वेष) द्वारा उपार्जित कर्मोंके फल बुरे होते हैं, वैसे ही सर्व कर्मोंके क्षयसे जीव सिद्ध होकर सिद्ध लोकको पहुचते हैं।

टिप्पणियाँ

१—आत्माकी ज्ञान शक्तिको प्रगट होनेसे रोके उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान पांच तरहके होते हैं। (१) इन्द्रिय व मनके सहारेसे जो ज्ञान होता है वह मति ज्ञान; (२) शास्त्रोंके अध्ययन व सुननेसे जो ज्ञान होता है व श्रुति ज्ञान; (३) किसी सीमाके अन्दरके पदार्थोंका इन्द्रिय आदिके सहारे बिना ही जो ज्ञान होता

है वह अवधि ज्ञान; (४) बिना इन्द्रिय आदिकी सहायताके संज्ञी जीवोंके मनोगत भावोंका ज्ञान होना मनः पर्यव ज्ञान, (५) पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान केवल ज्ञान—इस तरह ज्ञानके पांच भेद होते हैं।

२—दर्शन—आत्माकी देखनेकी शक्तिको रोकनेवाले कर्मको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। निद्रा—सजग नींद; निद्रा निद्रा—कठिनाई से जागनेवाली नींद; प्रचला—बैठे-बैठे या खड़े-खड़े नींद आना; प्रचला-प्रचला—चलते फिरते नींदका आना; स्त्यानगृद्धि—दिनमें व रातमें विचारे हुए कामको नींदमें ही कर डालना। नींदके ये पांच भेद हैं। पांचों प्रकारके निद्रा भाव दर्शनावरणीय कर्मके उसी नामके उपभेदके उदयसे होते हैं। निद्राके भेदोंके अनुसार ही इन उपभेदोंके नाम निद्रा दर्शनावरणीय आदि कर्म हैं।

चक्षुदर्शन—आंखके द्वारा पदार्थोंका सामान्य बोध होना।

अचक्षुदर्शन—आंख बिना त्वचा, कान, जिह्वा आदिसे पदार्थोंका सामान्य बोध होना।

अवधि दर्शन—इन्द्रिय और मनके सहारे बिना ही किसी खास सीमाके अन्दर रहे रूपी पदार्थोंका सामान्य बोध।

केवल दर्शन—सम्पूर्ण पदार्थोंका सामान्य बोध।

३—वेदनीय कर्म:—जिस कर्मसे सुख दुःखका अनुभव होता हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। सुखात्मक व दुःखात्मक अनुभूतिके भेदसे यह कर्म साता वेदनीय व असाता वेदनीय दो प्रकारका होता है।

४—मोहनीय कर्म—जो कर्म आत्माको मोह विह्वल करे, स्व-पर विवेकमें बाधा पहुचावे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। आत्माके सम्यक्त्व या चरित्र गुणकी घात करनेसे यह कर्म दर्शन व चरित्र मोहनीय दो तरहका होता है।

५—जो कर्म प्राणीकी जीवन-अवधि—आयुको निर्धारित करे उसे आयु कर्म कहते हैं। जीवकी नरकादि गतिके अनुसार आयु कर्मके चार भेद हैं।

६—जो कर्म प्राणीकी गति, शरीर, परिस्थिति आदिका निर्मायक हो उसे नाम कर्म कहते हैं। शुभ अशुभ भेदसे यह दो तरहका है।

७—गोत्र कर्म—वह कर्म है जो मनुष्यके ऊंच नीच कुलका निर्धारण करे।

८—जो कर्म—दान, लाभ, भोग-उपभोग, पराक्रम—इन चार बातोंमे रुकावट डाले, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

७ : मोक्ष मार्ग

[१]

१—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वर दंसिहिं॥

उत्त० २८ । २

वस्तु स्वरूपको जाननेवाले—परमदर्शी जिनोंने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टयको मोक्ष-मार्ग कहा है।

२—एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं॥

उत्त० २८ : ५

सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी सर्व पर्यायके यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवानने 'ज्ञान' कहा है। यह ज्ञान पांच[1] प्रकारसे होता है।

३—जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव॥

उत्त० २८ : १४

(१) जीव, (२) अजीव, (३) बंध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आश्रव, (७) सवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष—ये नौ तत्त्व—सत् पदार्थ हैं।

१—देखिए पृ० ४१४ टिप्पणी नं० १

४—तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥

उत्त० २८ : १५

स्वयं ही—अपने आप ही या उपदेशसे उपरोक्त सत् भूत तत्त्वों के अस्तित्वमें आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास—होना—इसे ही सम्यकत्व कहा गया है।

५—परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा॥

उत्त० २८ : २८

परमार्थका संस्तव—परिचय, तत्त्वज्ञानी—जो परमार्थको अच्छी तरह पा चुके उनकी सेवा तथा सन्मार्ग-भ्रष्टता और कुदर्शनका वर्जन—ये ही सम्यक्त्वकी श्रद्धा—सत्य श्रद्धानके लक्षण हैं।

६—निस्संकिय-निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढ़दिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ॥

उत्त० २८ : ३१

(१) निःशंका—(२) निःकांक्षा, (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टित्व (५) उपबृंहा (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य भाव और (८) प्रभावना—ये आठ सच्ची श्रद्धावालेके आचार हैं।

७—नत्थिचरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥

उत्त० २८ : २९

सच्ची श्रद्धा बिना चारित्र संभव नहीं है; श्रद्धा होनेसे ही चारित्र होता है। जहां सम्यक्त्व और चारित्र युगपत्—एक साथ होते हैं वहां पहले सम्यक्त्व होता है।

८—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं॥
उत्त० २८ : ३०

जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके सच्चा ज्ञान नहीं होता और सच्चे ज्ञान बिना चारित्रगुण नहीं होते और चारित्रगुणोंके बिना कर्म मुक्ति नहीं होती और कर्म-मुक्ति बिना निर्वाण नहीं होता।

९—जहा सूई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सई।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ॥
उत्त० २९ : ५९

जिस तरह सूतेमे पिरोई हुई सूई गिरने पर भी नहीं खोती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूतेमें पिरोई हुई आत्मा ससारमें विनाशको प्राप्त नहीं होती।

१०—नाणेण जाणई भावे, दंसणेणं य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥
उत्त० २८ : ३५

ज्ञानसे जीव पदार्थोंको जानता है, दर्शनसे श्रद्धा करता है, चारित्र से आस्रवका निरोध करता है और तपसे कर्मोंको झाड़ कर शुद्ध होता है।

[२]

१—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥
उत्त० २८ : ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीवके लक्षण हैं।

२—तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं॥
उत्ता० २८ । ४

ज्ञान पांच प्रकारका है: (१) श्रुत ज्ञान, (२) आभिनिबोधिक—मति ज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्यव ज्ञान और (५) केवल ज्ञान।

३—निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई॥
उ० २८ : १६

सम्यक्त्व दस प्रकारका है: (१) निसर्ग रुचि, (२) उपदेश रुचि, (३) आज्ञा रुचि, (४) सूत्र रुचि (५) बीज रुचि, (६) अभिगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रियारुचि, (९) संक्षेप-रुचि और (१) धर्मरुचि।

४—सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च॥
अकसाय महक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्सवा।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं॥
उ० २८ : ३२, ३३

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थानीय, (३) परिहार विशुद्धि, (४) सूक्ष्मसंपराय तथा (५) कषाय रहित यथाख्यात चारित्र (जो छद्मस्थ या जिनको प्राप्त होता है) ये सर्व कर्मोंकी राशिको रिक्त—क्षय करनेवाले चारित्रके पांच भेद हैं।

५—तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो॥
उ० २८ : ३४

तप दो प्रकारका कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छः प्रकारका है और आभ्यन्तर तप भी छः प्रकार का।

६—अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ॥

उत्त० ३० : ८

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचारी, रस-परित्याग, कायक्लेश और संलेषना—ये छः बाह्य तप हैं।

७—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो॥

उत्त० ३० : ३०

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये छः आभ्यन्तर तप हैं।

८—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥

उ० २८ : ३

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्गको प्राप्त हुए जीव सुगतिको जाते हैं।

८ : सिद्धि-क्रम

१—जया जीवमजीवे य, दोऽवि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ॥

द० ४ : १४

जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनोंको अच्छी तरह जान लेता है, तब सब जीवोंकी बहुविध गतियोंको भी जान लेता है।

२—जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ॥

द० ४ : १५

जब मनुष्य सर्व जीवोंकी बहुविध गतियोंको जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको भी जान लेता है।

३—जया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे॥

द० ४ : १६

जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जान लेता है, तब जो भी देवों और मनुष्योंके कामभोग हैं, उन्हें जानकर उनसे विरक्त हो जाता है।

४—जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं॥

द० ४ : १७

जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगोंसे विरक्त हो जाता है, तब वह अन्दर और बाहरके संयोग—सम्बन्धोंको छोड़ देता है।

५—जया जयइ सजोगं, सब्भिन्तरबाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं॥

द० ४ : १८

जब मनुष्य बाहर और भीतरके सांसारिक सम्बन्धोंको छोड़ देता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्तिको धारण करता है।

६—जया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं॥

द० ४ : १९

जब मनुष्य मुण्ड हो अनगार वृत्तिको ग्रहण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम और अणुत्तर धर्मका स्पर्श करता है।

७—जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं॥

द० ४ : २०

जब मनुष्य उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्मका स्पर्श करता है, तब वह अज्ञानसे संचित की हुई कलुष कर्मरजको धुन डालता है।

८—जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ॥

द० ४ : २१

जब मनुष्य अज्ञानसे संचित की हुई कलुष कर्मरजको धुन डालता है, तब सर्वगामी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त कर लेता है।

९—जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥

द० ४ : २२

जब मनुष्य सर्वगामी केवल ज्ञान और केवल दर्शनको प्राप्त कर लेता है, तब वह जिन केवली लोक-अलोकको जान लेता है।

१०—जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ॥

द० ४ : २३

जब मनुष्य जिन केवली हो लोक अलोकको जान लेता है, तब योगोंका निरोध कर वह शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है।

११—जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

द० ४ : २४

जब मनुष्य योगोंका निरोध कर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है, तब कर्मोंका क्षय कर निरज सिद्धिको प्राप्त करता है।

१२—जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥

द० ४ : २५

जब मनुष्य सर्व कर्मोंका क्षय कर निरज सिद्धिको प्राप्त करता है, तब वह लोकके मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है।

१३—सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥

द० ४ : ११

जीव सुनकर कल्याणको जानता है और सुनकर ही पापको जानता है। पाप और कल्याण दोनों सुनकर ही जाने जाते हैं। सुन कर मनुष्य जो श्रेय हो उसका आचरण करे।

९ : अज्ञान क्षय-क्रम

१—ओयं चित्तं समादाय, झाणं समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमाणो, निव्वाणमभिगच्छइ ॥

द० श्रु० ५ : १

राग द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्तिको धारण करनेसे जीव धर्म ध्यानको प्राप्त करता है। जो शङ्का रहित मनसे धर्ममें स्थित होता है, वह निर्वाण-पदकी प्राप्ति करता है।

२—ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सन्नि-णाणेण जाणइ ॥

द० श्रु० ५ : २

इस प्रकार द्वेष रहित निर्मल चित्तको धारण करनेवाला मनुष्य इस लोकमें बार-बार जन्म नहीं लेता; वह संज्ञि-ज्ञानसे अपने उत्तम स्थानको जान लेता है।

३—अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेति संवुडे।
सव्वं वा ओहं तरति, दुक्ख-दोय विमुच्चइ ॥

द० श्रु० ५ : ३

संवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्नको देखता है और सर्व प्रकार से संसाररूपी समुद्रसे पार हो, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखसे छुट जाता है।

४—पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसति ताइणो॥

द० श्रु० ५ : ४

जो अन्त प्रान्त आहारका भोजन करनेवाला होता है, जो एकांत शयन आसनका सेवन करता है, जो अल्पाहारी और दांत-इन्द्रियोंको जीतनेवाला—होता है तथा जो षट्कायके जीवोंका त्राता होता है, उसे देव शीघ्र ही दर्शन देते हैं।

५—सव्व-काम-विरत्तस्स, खमणो भय-भेरवं।
तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो॥

द० श्रु० ५ : ५

जो सर्वकामसे विरक्त होता है, जो भय-भैरवको सहन करता है, उस संयमी और तपस्वी मुनिके अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

६—तवसा अवहट्टलेस्सस्स, दंसणं परिसुज्झइ।
उड्ढं अहे तिरियं च, सव्वमणुपस्सत्ति॥

द० श्रु० ५ : ६

जो तपसे अशुभ लेश्याओंको दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल—हो जाता है और फिर वह ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक्लोकके जीवादि पदार्थोंको सब तरहसे देखने लगता है।

७—सुसमाहिएलेस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणाइ पज्जावे॥

द० श्रु० ५ : ७

जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओंको धारण करने वाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्कसे चंचल नहीं होता-इस तरह जो सर्व प्रकारसे विमुक्त होता है उसकी आत्मा मनके पर्यवोंको

जान लेती है—उसे मन:पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है।

८—जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥
द० श्रु० ५ : ८

जिस समय उस मुनिका ज्ञानावरणीय कर्म सब प्रकारसे क्षय-गत हो जाता है, उस समय वह केवल ज्ञानी और जिन हो लोक-अलोकको जानने लगता है।

९—जया से दरसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली ॥
द० श्रु० ५ : ९

जिस समय उस मुनिका दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकारसे क्षय गत होता है, उस समय वह जिन और केवली हो लोक-अलोकको देखने लगता है।

१०—पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जं खयं गयं।
असेसं लोगमलोगं च, पासेति सुसमाहिए ॥
द० श्रु० ५ : १०

प्रतिज्ञाके विशुद्ध आराधनसे जब मोहनीय कर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोकको देखने लगता है।

११—जहा मत्थय सूइए, हंताए हम्मइ तले।
एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गयं ॥
द० श्रु० ५ : ११

जिस तरह अग्रभाग पर छेदन करनेसे ताड़का गुच्छ भूमि पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके क्षय-गत होनेसे सर्व कर्म

भी नष्ट हो जाते हैं।

१२—सेणावतिंमि निहते जहा, सेणा पणस्सत्ति
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गयं।

द० श्रु० ५ : १२

जिस प्रकार सेनापतिके मारे जाने पर सारी सेना नाशको प्राप्त होती है, उसी तरह मोहनीय कर्मके क्षय गत होने पर सर्व कर्म नाश को प्राप्त होते हैं।

१३—धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गए॥

द० श्रु० ५ : १३

जिस तरह अग्नि इन्धनके अभावमें धूम रहित होकर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके क्षय होने पर सर्व कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं।

१४—चिच्चा ओरालियं बोंदिं, नाम गोयं च केवली।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति नीरए॥

दशा० श्रु० ५ : १६

केवली भगवान् इस शरीरको छोड़कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मका छेदन कर कर्म रजसे सर्वथा रहित हो जाते हैं।

१५—एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म, आया सुद्धिमुवागई॥

दशा० श्रु० ५ : १७

हे शिष्य ! इस प्रकार समाधिके भेदोंको जान, राग और द्वेषसे रहित चित्तको धारण करनेसे शुद्धि श्रेणीको प्राप्त कर आत्मा शुद्धिको प्राप्त करता है।

१० : सिद्ध और उनके सुख

१—असरीरा जीवघणा उवउत्ता, दंसणे य णाणे य।
सागार मणागारं, लक्खणमेय तु सिद्धाणं ॥
उव० सू० १७८

सिद्ध अशरीर—शरीर रहित—होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान-केवलदर्शनसे संयुक्त होते हैं साकार और अनाकार उपभोग उनका लक्षण होता है।

२—केवलणाणुवउत्ता जाणंहि सव्वभावगुणभावे।
पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीअणंताहिं ॥
उव० सू० १७९

सिद्ध केवलज्ञानसे संयुक्त होनेसे सर्वभाव, गुणपर्यायको जानते है और अपनी अनन्त केवल दृष्टिसे सर्वभाव देखते हैं।

३—णवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं ण विय सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं ॥
उव० सू० १८०

न मनुष्यके ऐसा सुख होता है और न सब देवोंके जैसा कि अव्याबाध गुणको प्राप्त सिद्धोंके होता है।

४—जइ णाम कोइ मिच्छो णगरगुणे वहुविहे वियाणं तो।
ण चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असंतीए ॥

इय सिद्धाणं सोक्खं अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं।
किंचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं।
उव० सू० १८३, १८४

जैसे कोई म्लेच्छ नगरकी अनेक विध विशेषताको देख चुकने पर भी उपमा न मिलनेसे उनका वर्णन नहीं कर सकता; इसी तरह सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उनकी तुलना नहीं हो सकती।

५—जह सव्वकामगुणियं पुरिसो भोत्तूण भोयणे कोई।
तण्हा छुहाविमुक्को अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो॥
इय सव्वकालतित्ता अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥
उव० सू० १८५, १८६

जिस प्रकार सर्व प्रकारके पांचो इन्द्रियोके भोगको प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर, क्षुधा और प्याससे रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्यकी तरह होता है उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदा काल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखको प्राप्तकर अव्याबाधित सुखी रहते हैं।

६—सिद्धत्ति य बुद्धति य पारगयत्ति य परंपरगयत्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य॥
उव० सू० १८७

सर्व कार्य सिद्ध होनेसे वे सिद्ध हैं सर्व तत्त्वके पारगामी होनेसे बुद्ध हैं, संसार-समुद्रको पार कर चुके होनेसे पारंगत है, हमेशा सिद्ध रहेंगे इससे परंपरागत हैं।

७—णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणुहोंति सासयं सिद्धा॥
उव० सू० १८८

वे सब दुःखोंको छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरणके बंधनसे विमुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुखका अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं।

८—अतुल सुहसागरगया अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥
उव० सू० १८६

वे अतुल सुख-सागरको प्राप्त होते हैं, वे अनुपम अव्याबाध सुखको प्राप्त हुए होते हैं। अनन्त सुखको प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी कालमें वैसे ही सुखी रहते हैं।

११ : दुर्लभ सुलभ

१—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥
उत्त० ३६ : २५५

जो जीव मिथ्यादर्शनमें रत हैं, जो निदान—फल पानेकी कामना—सहित हैं तथा जो हिंसामें प्रवृत्त हैं—ऐसी स्थितिमें जो जीव मरते हैं उनके लिए पुनः बोधि—सम्यक्त्व—का पाना दुर्लभ है।

२—सम्मदंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही ॥
उत्त० ३६ : २५६

जो सम्यक्दर्शनमें अनुरक्त, निदान—फल-कामनासे रहित और शुक्ललेश्यामें प्रतिष्ठित हैं—ऐसी स्थितिमें जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि—सम्यक्त्व—सुलभ होता है।

३—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥
उत्त० ३६ : २५७

जो जीव मिथ्यादर्शनमें रत, निदान—फल कामनासे सहित तथा कृष्णलेश्यामें प्रतिष्ठित हैं, इस प्रकारकी स्थितिमें जो जीव मरते हैं, उन्हें पुनः बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है।

४ – जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥

उत्त० ३६ : २६१

जो जीव जिन वचनोंमें अनुरक्त, जिन वचनोंके अनुसार भावसे आचरण करनेवाले, अमल—मिथ्यात्व-मल और रागादि क्लेषोंसे रहित हैं, वे परितसंसारी—संसारको छोटा करनेवाले होते हैं।

१२ : दिग्मूढ

१—वणे मूढे जहा जन्तू, मूढे नेयाणुगामिए।
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छई॥
अन्धो अन्धं पहं नेन्तो, दूरमद्धाण गच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदु वा पन्थाणुगामिए॥
एवमेगे नियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदु वा अहम्ममावज्जे, न ते सव्वज्जुयं वए॥

सू० १, १।२ : १८, १९,२०

जैसे वनमें भूला कोई दिग्मूढ़ जीव दूसरे दिग्मूढ़ जीवका अनुसरण कर ठीक रास्ते पर नहीं आता और रास्तेको नहीं जाननेसे दोनों ही तीव्र शोकको प्राप्त होते हैं।

जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग दिखाता हुआ दूर निकल जाता है या उत्पथमें चल आता या उल्टे पथ पर चला जाता है, उसी तरहसे कई मुक्तिकी कामना रखनेवाले समझते हैं कि हम धर्म की आराधना कर रहे हैं परन्तु मिथ्या धर्म पर चलनेसे वे सर्वथा ऋजु—सरल—मार्गको नहीं पाते।

२—एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमञ्जुहि दुम्मई॥

एवं तक्काइ साहेन्ता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टन्ति, सउणि पञ्जरं जहा॥
सू० १, १ । २ : २१, २२

कई ऐसे हैं जो केवल कुतर्क ही किया करते हैं और दूसरे सच्चे हों तो भी उनकी पर्युपासना नहीं करते। दुर्मति अपनी तर्कसे ही सोचते रहते कि उनका मार्ग ही सरल है। इस प्रकार अपनी पक्षमें तर्क करते हुए तथा धर्माधर्मको नहीं जानते हुए ऐसे लोग पींजरेमे बधे हुए पक्षीकी तरह दुःखका अन्त नहीं कर सकते।

३—सयं सयं पसंसन्ता, गरहन्ता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया॥
सू०१, १ । २ : २३

अपने-अपने मतकी प्रशंसा करनेमें और दूसरोंके मतकी गर्हा—निन्दा करनेमें ही जो पाण्डित्य दिखाते हैं वे संसारमें बधे रहते हैं—उसके पार नहीं पहुंचते।

४—ते नावि संधिं नच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराहिया॥
सू० १; १ । १ : २०

इन सब वादियोंको न सच्चे ज्ञानकी खबर है और न सच्चे धर्म का भान। इसलिए वे संसार-समुद्रको नहीं तिर सकते।

५—नाणाविहाइ दुक्खाइं, अणुहोन्ति पुणो पुणो।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले॥
१, १ । १ : २६

जरा-मृत्यु और व्याधिसे पूर्ण इस संसार-चक्रमें वे ऐसे कुतर्की बार-बार अनेक प्रकारके दुःख भोगते रहते हैं।

७—जहा अस्साविणिं नावं, जाइअन्धो दुरूहिया।
इच्छई पारमागन्तुं, अन्तरा य विसीयई॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टन्ति॥
सू० १, १। २ : ३१, ३२

जिस तरह छेदवाली फूटी नावमें बैठकर पार जानेकी इच्छा करनेवाले जन्मान्ध पुरुष पार नहीं पा सकते और बीचमें ही डूबते हैं इसी तरहसे कई अनार्य और मिथ्यादृष्टी श्रमण ससारसे पार पानेकी आकांक्षा रखते हुए भी संसारमें ही गोते खाया करते हैं।

८—सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मई।
उम्मग्गगया दुक्खं, घायमेसन्ति तं तहा॥
सू० १, ११ : २६

शुद्ध मार्गकी विराधना करते हुए कई दुर्मति उन्मार्ग पर चले जाते हैं और (कर्मोंका संचय कर) दुःख और घातको प्राप्त होते हैं।

६—इमं च धम्ममायाय, कासवेण पवेइयं।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए॥
सू० १, ११ : ३२

काश्यप भगवान महावीर द्वारा कहे हुए धर्मके ग्रहण करनेसे मनुष्य इस संसार-रूपी घोर समुद्रसे तिर जाता है। इसलिए आत्माकी रक्षाके अभिप्रायसे मुमुक्षु इसी मार्गमें विहार करते हैं।

४ : क्रांति पद

१ : अनाथ

१—जो पव्वइत्ता ण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अणिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधणं से ।।

उत्त० २० : ३६

जो प्रव्रजित हो बादमें प्रमादके कारण महाव्रतोंका समुचित रूपसे पालन नहीं करता, जो आत्म-निग्रही नहीं होता और रसमें गृद्ध होता है, वह संसार-बन्धनकी जड़ोंको मूलसे नहीं उखाड़ सकता ।

२—चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ।

उत्त० २० : ४१

जो चिरकालसे मुंड होकर भी व्रतोंमें स्थिर नहीं होता और तप नियमोंसे भ्रष्ट होता है, वह चिरकाल तक आत्माको क्लेश पहुंचाने पर भी इस संसारका पार नहीं पाता ।

३—पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ।।

उत्त० २० : ४२

जिस तरह पोली मुट्ठी और विना छापका खोटा सिक्का असार होता है, उसी तरह जो व्रतोंमें स्थिर नहीं होता उसके गुण हीन वेषकी कीमत नहीं होती—वह असार ही होता है; क्योंकि वैडूर्य मणि की

तरह प्रकाश करता हुआ भी काच जानकारके सामने मूल्यवान नहीं होता।

४—विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥
उ० २० : ४४

जिस तरह कालकूट विष पीनेवालेको मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्रधारीको ही घातक होता है और जिस तरह विधिसे वश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारीका ही विनाश करता है, उसी तरह विषयकी पूर्तिके लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्माके पतनका ही कारण होता है।

५—कुसील लिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलिप्पमाणे, विणिघायमागछइ से चिरंपि॥
उ० २० : ४३

जो दुराचारी केवल रजोहरणादि बाह्य वेषको रखता है, जो पेट पूर्तिके लिए ही साधु लिंगको धारण करता है और जो असंयमी होने पर भी संयमी होनेका दिखाव करता है वह चिरकाल तक दुःखी होता है।

६—निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए, दुहओ वि से झिज्झइ तत्थलोए॥
उ० २० : ४९

उसका नग्नभाव निरर्थक है, जो उत्तमार्थमें विपर्यास करता है—कृतार्थी नहीं होता। वह न इस लोकका होता है, न परलोक का। वह इह भव और पर भव दोनोंको खोता है।

७—न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

उ० २० : ४८

दुरात्मा अपना जो अनिष्ट करती है वह कंठछेदकरनेवाला बैरी भी नहीं करता। दुराचारी अपनी आत्माके लिए सबसे बड़ा दया हीन होता है; पहले उसे अपने कर्मोंका भान नहीं होता परन्तु जब वह मृत्युके मुखमें पहुंचता है तो पछताता हुआ बहुत दुःखी होता है।

८—एमेवहाछंदकुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ ॥

उ० २० : ५०

जो स्वछंद, कुशील और निरावेषधारी होता है और जो उत्तम जिन मार्गकी विराधना कर टीटोड़ीकी तरह रस भोगमें गृद्ध होता है, उसका बादमें पछताना निरर्थक है।

२ : ब्राह्मण कौन ?

१—न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

उत्त० २५ : ३१

सिर मुंडा लेने मात्रसे कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' के उच्चारण मात्रसे कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता और न वल्कल चीर धारण मात्रसे तापस होता है।

२—समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥

उत्त० २५ : ३२

समभावसे ही कोई श्रमण होता है और ब्रह्मचर्यसे ही कोई ब्राह्मण; ज्ञानसे ही कोई मुनि होता है और तपसे ही कोई तापस।

३—कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

उत्त० २५ : ३३

कर्मसे ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्मसे ही क्षत्रिय। कर्मसे ही मनुष्य वैश्य होता है और शूद्र भी कर्मसे ही।

४—जो लोए बंभणो वुत्तो, अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥

उत्त० २५ : १९

जिसे कुशल पुरुषोंने ब्राह्मण कहा है तथा जो लोकमें अग्निकी तरह पूज्य है, उसे हम सदा कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं।

५—जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयंतो न सोयई।
रमइ अज्जवयणंमि, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २०

जो आए हुए सम्बन्धियोंमें प्रीतिवान नहीं होता, जो जाते समय शोक नहीं करता और जो आर्य वचनोंमें सदा अनुरक्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

६—जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं।
रागद्दोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २१

जो अग्निमें तपाकर शुद्ध किये और घिसे हुए सोनेकी तरह पाप-मल रहित होता है तथा जो राग-द्वेष और भयसे शून्य होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

७—तवस्सियं किसं दन्तं, अवचयमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २२

जो तपस्वी है, कृश है, जितेन्द्रिय है, तप साधनासे जिसने रक्त और मांस सूखा दिया है, जो सुव्रती है और जिसने क्रोध, मान, माया और लोभसे मुक्ति पाली है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

८—तसे पाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २३

जो त्रस (चलने फिरनेवाले) और स्थावर (स्थिर) जीवोंको अच्छी तरह जान कर उनकी तीनों प्रकारसे कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

९—कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं॥

उ० २५ : २४

जो क्रोध, हंसी-मजाक, लोभ, भय इन किसी भी कारणोसे झूठ नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

१०—चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हइ अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं॥

उ० २५ : २५

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, मालिकके दिए विना ग्रहण नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

११—दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥

उ० २५ : २६

जो देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकारके मैथुनका मन, वचन और शरीरसे सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

१२—जहा पोम्मं जले जायं, नोव लिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥

उ० २५ : २७

जिस तरह कमल जलमें उत्पन्न होकर भी जलसे लिप्त नहीं होता,

इसी प्रकार भोगोंमें उत्पन्न होकर भी जो उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

१३—अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम महणं॥

जो लोलुपी नहीं है, जो पेटके लिए संग्रह नहीं करता, जो घरबार रहित है, जो अकिंचन है, और जो गृहस्थोंसे परिचय नहीं करता, उसे ब्राह्मण कहते है।

१४—जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २८,२९

जो पूर्व संयोग (स्त्री, माता-पिताके मोह-पाश), जाति बिरादरी और बान्धवोंको एक बार छोड़ चुकने पर फिर भोगोंमें अनुरक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

१५—एए पाउकरे बुद्धे, जहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं॥

बुद्ध पुरुषोंने जो गुण बतलाए हैं, उनसे संयुक्त होनेसे ही कोई स्नातक होता है। जो सब कर्मोंसे मुक्त होता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं।

१६—एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव च॥
उ० २५ : ३४,३५

इस भांति उत्तम गुणोंसे संयुक्त जो द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना तथा दूसरोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं।

३ : कुशील

१—एवमेगे उ पासत्था, पन्नवन्ति अणारिया ।
इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरंमुहा ॥

स्त्रीके वश हुए तथा सदाचारमें ढीले कई मूर्ख अनार्य जिन शासन से पराङ्मुख हो इस प्रकार कहते हैं :

२—जहा गण्डं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥

जैसे फुन्सी अथवा फोड़ेको मुहूर्त भर दबा दिया जाता है, उसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करना चाहिए; इस कार्यमें दोष कैसे हो सकता है ?

३—जहा मन्धादणे नाम[1], थिमियं भुञ्जई दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोषो तत्थ कओ सिया ॥

जैसे भेड़ या पिङ्ग नामक पक्षिणी विना हिलाए जल पीती है, उसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करनेसे किसी को पीड़ा न होनेसे इसमें कोई दोष कैसे हो सकता है ?

४—एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥

सू० १, ३ । ४ : ६, १०, ११, १३

१—जहा विहंगमा पिङ्गा

इस तरह कितने ही शीलभ्रष्ट, मिथ्या दृष्टि तथा अनार्य पुरुष कामभोगमें वैसे ही अत्यन्त मूर्छित रहते हैं जैसे पूतना डाकिनी बालकों पर।

५—अणागयमपस्सन्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे॥

सू० १, ३।४ : १४

भविष्यमें होनेवाले दुखोंकी ओर न देख जो केवल वर्तमान सुखको खोजते हैं वे आयु और यौवन क्षीण होने पर पश्चाताप करते हैं।

६—अबंभयारी जे केइ, बंभयारी त्ति हं वए।
गद्दहेव्व गवां मज्झे, विस्सरं नयई नदं॥

दशा० श्रु० ६ : १२

ब्रह्मचारी न होते हुए भी जो मैं ब्रह्मचारी हूं, ऐसा कहता है, वह गायोंके बीचमें गर्दभकी तरह विस्वर नाद करता है।

४ : वस्त्र और मार्ग

पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छयं।

उत्त० २३ : २५

पच्चयत्थं च लोगस्स, नानाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोए लिंगप्पयोयणं॥
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणो।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए॥

उत्त० २३ : ३२-३३

प्रज्ञासे ही धर्म अच्छी तरह देखा जाता है और उसके द्वारा ही तत्त्वका विनिश्चय होता है।

नाना प्रकारकी वेषभूषा लोगोंकी प्रतीतिके लिए है। संयम यात्रा के निर्वाह तथा मैं साधु हूं इस बातकी स्मृतिके लिए ही लोकमें लिंग का प्रयोजन है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र यही निश्चय रूपसे मोक्षकी साधना है—इसमें तीर्थंकर एक मत है।

५ : पापी श्रमण

१—दुद्धदही विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥
उत्त० १७ : १५

जो दूध, दही आदि विकृतियोंका बार-बार आहार करता है और जिसे तप-कर्ममें रति नहीं वह पापी श्रमण कहा जाता है ।

२—सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे ।
निमित्तेण य ववहरइ, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥
उत्त० १७ : १८

जो अपना घर छोड़ कर पर घरोंमें काम करता है और निमित्तसे —शुभाशुभ बतलाकर—व्यवहार—आजीविका—करता है, वह पापी श्रमण कहा जाता है ।

३—दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं ।
उल्लंघणे च चण्डे य, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥
उत्त० १७ : ८

जो शीघ्र-शीघ्र चलता है, उन्मत्त होकर बार-बार जालादिका उल्लंघन कर जाता है और क्रोधी है, वह पापी श्रमण कहलाता है ।

४—जे केई उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुअइ, पावसमणे त्ति वुच्चइ ॥
उत्त० १७ : ३

जो कोई प्रव्रजित होकर अत्यन्त निन्द्राशील और आलसी होता है और खा-पीकर सुखसे सोता रहता है वह पापी श्रमण कहा जाता है।

५—आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहए।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
उत्त० १७ : ४

जो मूर्ख आचार्य और उपाध्यायसे श्रुत और विनय ग्रहण कर उन्हींकी निन्दा करता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

६—सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
उत्त० १७ : ६

जो प्राणी, बीज और हरी वनस्पतिका मर्दन करता हुआ असंयमी होने पर भी अपनेको संयमी मानता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

७—बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
उत्त० १७ : ११

जो अत्यन्त मायावी, विना विचारे बोलनेवाला, अहंकारी, लोभी, अनिग्रही, असंविभागी और प्रेमभाव नहीं रखनेवाला होता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

८—विवायं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥
उत्त० १७ : १२

जो विवाद को खड़ा करता है, जो अधर्ममें आत्मप्रज्ञा—बुद्धिवाला है और युद्ध और कलहमें रत है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

६ : परमार्थ

१—जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥

उत्त० ६ : ४०

जो प्रतिमास दस दस लाख गायोंका दान देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी नहीं देनेवाले संयमीका संयम श्रेष्ठ है ।

२—सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥

उत्त० ५ : २०

कई कई भिक्षुओंसे तो गृहस्थ ही सयममें उत्तम होते है परन्तु साधु पुरुष सभी गृहस्थोसे संयममें उत्तम होते है ।

३—चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥

उत्त० ५ : २१

वल्कलके चीर, मृग-चर्म, नग्नता, जटा, संघाटि—कंथा, सिर मुंडन इत्यादि नाना वेष दुराचारी पुरुषकी जरा भी रक्षा नहीं कर सकते ।

४—पिंडोलए व्व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥

उत्त० ५ : २२

भिक्षा मांग कर जीवन चलनेवाला भिक्षु भी अगर दुराचारी है तो नरकसे नहीं बच सकता। भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती—सदाचारी—होता है वह स्वर्गको प्राप्त करता है।

५—पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं॥

उत्त० १८ : २५

(साधु हो या गृहस्थ) जो मनुष्य पापी होते हैं वे घोर नरकमें गिरते हैं और आर्य धर्म—सत्य धर्मका जो अनुसरण करते हैं वे दिव्य गति में जाते हैं।

६—वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥

द० २ : २

वस्त्र, गन्ध, अलंकार स्त्रियां और शयन इनके अभावसे जो इनका भोग नहीं करता वह कोई त्यागी नहीं कहा गया है।

७—जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई॥

द० २ : ३

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनसे मुंह फेरता है—उन्हें पीठ दिखा देता है और जो स्वाधीन भोगोंको भी त्यागता है उसे ही सच्चा त्यागी कहा गया है।

७ : मद

१—जे यावि अप्पं वसुमं ति मत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता, अन्नं जणं पस्सइ बिम्बभूयं॥
एगन्तकूडेण उ से पलेइ, न विज्जई मोणपयंसि गोत्ते।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वासुमन्नतरेण अबुज्झमाणे॥

सू० १, १३ : ८,९

जो अपनेको संयमी समझ, मान करता है, परमार्थकी परख न होने पर भी जो अपनेको ज्ञानी मान बड़ाई करता है और जो मैं ही तपस्वी हूं, ऐसा गुमान करता हुआ दूसरेको परछांईकी नाई देखता है, वह कर्म-पाश में जकड़ा जाकर—जन्म मरणके एकान्त दुःखपूर्ण चक्रमें घूमता है। ऐसा पुरुष संयमरूपी सर्वज्ञमान्य गोत्रमें अधिष्टित नहीं होता। जो मानका भूखा अपनी बड़ाई करता है और संयम धारण करने पर भी अभिमानी होता है, वह परमार्थको नहीं समझता।

२—जे माहणे खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्ते न जे थब्भइ माणबद्धे॥

सू० १, १३ : १०

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र व लेच्छविय, कोई भी जिसने घरबार छोड़ प्रव्रज्या ले ली है और जो दूसरेके दिए हुए भोजन पर ही जीवन

चलाता है, उसे अपने मानस्पद गौत्रका अभिमान नहीं होना चाहिए।

३—न तस्स जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।
निक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, न से पारए होइ विमोयणाए॥

सू० १, १३ : ११

गोत्राभिमानीको उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नहीं हो सकते। सुआचरित विद्या और चरण—धर्मके सिवा अन्य वस्तु नहीं जो उसकी रक्षा कर सके। जो घरबारसे निकल चुकने पर भी गृह-कर्मोंका सेवन करता है, वह कर्म मुक्त होकर संसारके पार नहीं पहुंचता।

४—निक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोगकामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेन्ति॥

सू० १, १३ : १२

निष्किंचन और लूखे-सूखे आहार पर जीवन चलानेवाला भिक्षु होकर भी जो मानप्रिय और स्तुतिकी कामनावाला होता है, उसका वेष केवल आजीविकाके लिए होता है। परमार्थको न जान वह बार-बार संसार-भ्रमण करता है।

५—जे भासवं भिक्खु सुसाहुवाई, पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगाढपन्ने सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा॥
एवं न से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाहमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसइ बालपन्ने॥

सू० १, १३ : १३,१४

भाषाका जानकार, हित-मित बोलनेवाला, प्रतिभावान, विशारद, स्थिर प्रज्ञ और आत्माको धर्मभावमें लीन रखनेवाला—ऐसा भी जो

साधु अपनी प्रज्ञासे दूसरेका तिरस्कार करता है, जो लाभ-मदसे अव-लिप्त हो दूसरेकी निन्दा करता है और अपनी प्रज्ञाका अभिमान रखता है वह मूर्ख बुद्धिवाला पुरुष समाधि प्राप्त नहीं कर सकता।

६—पन्नामयं चेव तवोमयं च, निन्नामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पण्डिए उत्तमपोग्गले से॥

सू० १, १३ : १५

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गोत्र-मद और चौथा आजीविकाका मद—इन चार मदोंको नहीं करनेवाला निस्पृह भिक्षु सच्चा पण्डित और उत्तम आत्मावाला होता है।

७—मयाइँ एयाइँ विगिञ्च धीरा, न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयन्ति॥

उत्त० १, १३ : १६

जो धीर पुरुष इन मदोंको दूर कर धर्ममें स्थिर बुद्धि हो इनका सेवन नहीं करते वे सर्व गोत्रसे पार पहुंचे हुए महर्षि उच्च अगोत्र गतिको—मोक्षको पाते हैं।

८—तय सं व जहाइ से रयं, इइ संखाय मुणी न मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अहसेयकरी अन्नेसि इंखिणी।

सू १,२।२ : १

जिस तरह सर्प कांचलीको छोड़ता है उसी तरह संत पुरुष पाप रजको झाड़ देते हैं। यह जान कर मुनि गोत्र या अन्य बातोंका अभि-मान न करे और न दूसरोंकी अश्रेयस्कारी निन्दा करे।

९—जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इइ संखाय मुणी न मज्जई॥

सू० १, २।२ : २

जो दूसरोंका तिरस्कार करते हैं, वे संसारमें अत्यन्त, परिभ्रमण करते हैं। पर निन्दाको पापकारी समझ कर मुनि किसी प्रकारका मद न करे।

१०—जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगेसिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, नो लज्जे समयं सया चरे॥

सू० १, २।२ : ३

कोई अनाथ हो और कोई नौकरका नौकर तो भी संयम ग्रहण कर लेने पर मुनि परस्पर वंदनादि करनेमें निःसंकोच भाव हों और सदा परस्पर समभाव रक्खें।

८ : सच्चा तप

१—जइ वि य नगिणे किसे चरे, जइ वि य भुञ्जिय मासमंतसो।
जे इह मायाहि मिज्जई, आगन्ता गब्भाय णन्तसो॥

सू० १, २।१ : ६

भले ही कोई नग्न रहे और देहको कृश करे, भले ही कोई मास-मासके अन्तरसे भोजन करे, जो मायावी होता है, वह अनन्त बार गर्भावास करता है।

२—मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥

उत्त० ६ : ४४

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेके उपवास करे और पारणमे कुशाके अग्रभाग पर आवे उतना ही आहार करे तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्मके सोलहवें हिस्सेको भी नहीं पहुंच सकता।

३—जो लक्खणं सुविण पउंजमाणे, निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले॥

उत्त० २० : ४५

जो लक्षण विद्या, स्वप्न विद्या, ज्योतिष और विविध कुतूहल आदि में रत रहता है और जो तुच्छ विद्याओं द्वारा उदर पोषण करता है, उसकी ये सब बातें मरण समयमें शरणभूत नहीं होती।

४—तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ।
संधावइ नरगतिरिक्खजोणी, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥
उत्त० २० ४६

दुराचारी मनुष्य सदा दुःखी रहकर घोर तमस्तमा नरकमें गिरता है। असाधु पुरुष सदाचारके नियमोंका उल्लंघन कर नरक और पशु-पक्षियोंकी योनिमें उत्पन्न होता है।

५—सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥
उत्त० १२ : ३७

निश्चय ही तपकी विशेषता तो यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है और जातिकी विशेषता तो थोड़ी सी भी नजर नहीं आती। चाण्डाल पुत्र हरिकेश साधुकी महा ऋद्धि और प्रभावको तो देखो !

६—तेसिं पि न तवो सुद्धो, निक्खन्ता जे महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणन्ति, न सिलोगं पवेज्जए ॥
सू० १, ८ : २४

जो कीर्ति आदिकी कामनासे तप करते हैं, उनका तप शुद्ध नहीं है, भले ही उन्होंने महाकुलमेंसे प्रव्रज्या भी हो। जो दूसरे नहीं जाने (वही सच्चा तप है)। तपस्वी आत्मश्लाघा न करे।

७—जे कोहणे होइ जयट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अन्धे व से दण्डपहं गहाय, अविओसिए धासइ पावकम्मी ॥
सू० १, १३ : ५

जो स्वभावसे क्रोधी होता है, जो कटुभाषी है, जो शान्त हुए कलहको उखाड़ता है वह अनुपशांत परिणामवाला पापी जीव पगडंडी पर चलनेवाले अन्धेकी तरह धर्ममार्गसे पतित होता।

८—जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते।
ओवायकारी य हिरीमणे य, एगन्तदिट्ठी य अमाइरूवे ॥

सू० १, १३ : ६

जो झगड़ा करनेवाला और अन्यायभाषी है वह कलह रहित न होनेसे—सम—मध्यस्थभावी नहीं होता। जो आज्ञाकारी और पाप कर्म करनेमें लज्जाशील होता है और जिसकी आत्मार्थमें एकान्त दृष्टि होती है वही अमायी है।

९ : पात्र कौन ?

१—कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहो च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहीणा ताइं तु खित्ताइं सुपावयाइं ॥
उत्त० १२ : १४

जिनके क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह है वे ब्राह्मण जाति और विद्या दोनोंसे ही रहित है। ऐसे ब्राह्मण निश्चय ही पाप रूप क्षेत्र है।

२—तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं, अट्ठं न याणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति, ताइं तु खित्ताइं सुपेसलाइं ॥
उत्त० १२ : १५

हे ब्राह्मणो ! तुम लोग इस लोकमें वेदरूप वाणीके केवल भार उठानेवाले हीं हो ! वेदोंको पढ़कर भी तुमने उनके अर्थको नहीं जाना। सामान्य व उच्च घरोंमें भिक्षाचर्या करनेवाले मुनि ही वास्तवमें कृत्यकारी पुण्यरूप क्षेत्र हैं।

१० : बाह्य शुद्धि

१—किं माहणा जोइसमारभन्ता, उदएण सोहिं बहिया विमग्गह।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ।।

उत्त० १२ : ३८

हे ब्राह्मणो ! अग्निका आरम्भ कर और जल-मंजन कर बाह्य शुद्धि द्वारा अन्तर शुद्धिकी गवेषणा क्यों करते हो ? जो मार्ग केवल बाह्य शुद्धिका है, उसे कुशल पुरुषोंने इष्ट नहीं बतलाया है।

२—कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं, सायं च पायं उदगं फुसन्ता ।
पाणाइं भूयाइं विहेडयन्ता भुज्जो वि मन्दा पकरेह पावं ।।

उत्त० १२ : ३९

कुशा, यूप, तृण, काष्ट और अग्नि तथा प्रातः और सन्ध्या उदक का स्पर्श कर प्राणी और भूतोंका विनाश कर, हे मन्द बुद्धि पुरुष ! तुम केवल पापका ही उपार्जन करते हो !

३—इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ।।

सू० १, ७ : १२

कई मूर्ख लवण छोड़नेसे मोक्ष बतलाते हैं और कई शीतोदक सेवन करनेसे (सुबह साम नहाने धोनेसे) और कई हुताशन—धूनी तपनेसे मोक्ष बतलाते हैं।

४—पाओ सिणाणाइसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणास णेणं।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥
सू० १, ७ : १३

प्रातः स्नानादिसे मोक्ष नहीं होता और न नमकके वर्जनसे। मूर्ख मनुष्य मद्य, मांस तथा लहसुनका सेवनकर मोक्षकी आशा रखता है परन्तु वह अपने लिए कोई दूसरा ही वास (नर्कस्थान) तैयार करता है।

५—उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि ॥
सू० १, ७ : १४

जो सुबह और साम जलका स्पर्श करते हुए—जल स्नानसे मुक्ति बतलाते है वे मूर्ख हैं। जो जल-स्पर्शसे ही सिद्धि होती हो तब तो जलमें रहनेवाले बहुत जीव मोक्ष प्राप्त करें।

६—उदगं जई कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव।
अंधं व नेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥
सू० १, ७ : १६

जैसे जलसे पाप मल दूर होता होगा वैसे ही पुण्य भी क्यों नहीं धुलता होगा? जल स्नानसे पाप-मल धुलनेकी बात मनोकल्पना मात्र है। जिस तरह अन्धा पुरुष अन्धे पुरुषका अनुसरण कर अभिप्रेत स्थानको नहीं पहुंच सकता उसी तरह स्नान आदिसे मोक्ष मानने वाले मूर्ख प्राणियोंकी घात करते हुए सिद्धि नहीं पा सकते।

७—पावाइं कम्माइं पकुव्वोहिं, सिओदगं उ जइ तं हरिज्जा।
सिज्झिं सु एगे दगसत्तघाई, मुसं वयन्ते जलसिद्धिमाहु ॥
सू० १, ७ : १७

यदि पाप कर्मोंको करता हुआ मनुष्य शीतोदकके स्पर्शसे उनको दूर कर सकता है तब तो जीव घातक जल जंतु भी मुक्त हो सकते होंगे? जो जल-स्नानसे मुक्ति बतलाते हैं वे मिथ्या बोलते हैं।

८—हुएण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसन्ता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकंमिणं पि।
सू० १, ७ : १८

मूढ़ मनुष्य सुबह और संध्या अग्निका स्पर्श करते हुए हुताशनसे सिद्धि बतलाते हैं। अगर इस तरहसे मुक्ति मिले तब तो रात-दिन अग्निका स्पर्श करनेवाले लोहारादि कर्मी भी मोक्ष पहुँचेंगे।

९—जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसील धम्मे, भूयाइं जे हिंसई आयसाए॥
सू० १, ७ : ५

जो माता-पिता आदिको छोड़कर सन्यासी हो चुकने पर भी अग्निका समारम्भ करते हैं तथा जो आत्म-सुखके लिए प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, उन्हें कुशीलधर्मी कहा है।

१०—उज्जालओपाण निवायएज्जा, निव्वावओ अगणिं निवायवेज्जा
तम्हा उमेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणिं समारभिज्जा
सू० १, ७ : ६

जो अग्नि सुलगाता है, वह त्रस-स्थावर जीवोंका विनाश करता है और जो अग्नि बुझाता है वह भी अनेक जीवोंका विनाश करता है। अतः विवेकी पुरुष दया धर्मको अच्छी तरह समझ अग्निका समारम्भ नहीं करते।

११—पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एए दहे अगणिं समारभंते॥
सू० १, ७ : ७

अग्निका समारम्भ करनेवाला पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, उड़ उड़कर गिरनेवाले संपातिम प्राणी, संस्वेदज तथा काष्ठ इंधनादिमें रहे हुए जीव आदि स्थावर-जंगम प्राणियोंको जला डालता है।

१२—हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाइ
जे छिंदई आयसुहं पडुच्च, पगब्भि पाणे बहुणं तिवाई ॥
सू० १, ७ : ८

मनुष्यकी तरह ही हरी वनस्पति विकास शील होती हैं। इसके अलग-अलग भागोंमें पृथक्-पृथक् जीव होते हैं। जो आत्म-सुखके लिए—आहार तथा शरीरके लिए वनस्पतिका छेदन-भेदन करते हैं, वे ढीठतापूर्वक अनेक जीवोंका नाश करते हैं।

१३—जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥
सू० १, ७ : ६

जो कंद-मूल, शाखा-प्रशाखा, फल-फूल, बीज आदि वनस्पतिकाय का विनाश करता है, वह असंयमी अपनी आत्माकी ही घात करता है। जो आत्म-सुखके लिए बीज प्रमुख हरी कायकी हिंसा करता है, उसे लोकमें अनार्यधर्मी कहा है।

१४—अपरिक्ख दिट्ठं णहु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जंगहायं तसथावरेहिं ॥
सू० १, ७ : १६

जो स्नान और होमादिसे सिद्धि बतलाते हैं, वे आत्मार्थको नहीं पहचानते। इस तरह मुक्ति नहीं होती। वे परमार्थको समझे बिना प्राणी-हिंसा कर संसारमें भ्रमण करेंगे। विवेकी पुरुष 'त्रस-स्थावर

सब जीव सुख चाहते हैं'—इस तत्त्वको ग्रहण कर वर्तन करते हैं।

१५—थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हाविऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसेया पडिसंहरेज्जा॥

सू० १, ७ : २०

पापी जीव नरकमें जाकर आक्रंद करता है, छेदा-भेदा जाता है और व्याकुल हो इधर-उधर दौड़ता है। इसलिए विद्वान् मुनि पापसे निवृत्त होकर अपनी आत्माकी रक्षा करे। वह त्रस और स्थावर प्राणियोंकी घातकी क्रिया न करे।

११ : तुष

१—जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु यजे सिणाइं।
जे धोवई लूसयई व वत्थं, अहाहु ते नागणियस्स दूरे ॥
सू० १, ७ : २१

जो संग्रह कर रखे हुए भोजनका आहार करते हैं फिर वह आहार निर्दोष और नियमानुसार प्राप्त भी क्यों न हो और जो स्नान करते हैं, फिर चाहे वह शरीर संकोच कर और प्रासुक जलसे ही क्यों न किया गया हो तथा जो वस्त्रोंको धोते अथवा वस्त्रों को शोभाके लिए छोटा व लम्बा करते हैं वे श्रमणधर्मसे दूर हैं—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है।

२—जे मायरं च पियरं च हिच्च, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥
सू० १, ७ : २३

माता-पिता, घर, पुत्र, पशु और धनको त्यागकर सर्वव्रती साधु हो चुकने पर भी जो जिह्वा-लोलुपी बन स्वादु भोजनवाले घरोंमें दौड़ता है, वह श्रमण भावसे दूर है ऐसा ज्ञानियोंने कहा है।

३—कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाइ धम्मं उयराणुगिद्धे।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ।
सू० १, ७ : २४

जो स्वादु भोजनवाले घरोंमें बार-बार जाता है और उदर पूर्ति के लिये लोलुपी बना मन चाहा धर्म कहता है तथा जो आहार वस्त्र आदि वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए अपनी प्रशंसा करता है वह आर्य धर्म के शतांशसे भी दूर है।

४—णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उयराणुगिद्धे।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूरए एहिइ घायमेव॥
सू० १, ७ : २५

जो घरबार छोड़ चुकने पर पर भी भोजनके लिए दीनता दिखाते हैं और उदर पूर्तिके लिए गृद्ध बने भाटकी तरह गृहस्थोंकी प्रशंसा करते फिरते हैं वे चावलमें आसक्त सूअरकी तरह शीघ्र ही विनाशको प्राप्त होते हैं।

५—अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासइ सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए॥
सू० १, ७ : २६

जो अन्न-पान व वस्त्रादिके लिये नौकरकी तरह खुशामद करता हुआ प्रिय बोलता रहता है वह सदाचार-भ्रष्ट पासत्थ कुशीलभाव को प्राप्त हो बिना धानके तुषकी तरह निःसार होता है।

६—आउत्तया जस्स न अत्थि काइ, इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेव दुगुंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं॥
उत्त० २० : ४०

गमनागमान, बोलने, एषणा—भोजनादि शोधने और ग्रहण करने, वस्त्रादि सामग्रियोंको रखने उठाने तथा दुगंछनीय चीजोंके उत्सर्ग करने इन—समितियोंके विषयोंमें जिसके निरन्तर उपयोग—सावधानता नहीं है वह वीरोपदिष्ट मार्गका अनुयायी नहीं है।

७—उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टुपावं॥
उत्त० २० : ४७

जो अग्निकी तरह सर्वभक्षी बन साधुको उद्देश्य कर किया हुआ, साधुके लिए खरीद कर लाया हुआ और नित्य पिण्ड—इस तरहके किसी भी अनैषणीय आहारको नहीं छोड़ता वह यहांसे देह छोड़कर अत्यन्त पापवाली नारकीको जाता है।

८—चरित्तमायार गुणण्णिए तओ, अणुत्तरं संजम पालिया णं।
निरासवे संक्खवियाणकम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमंधुवं॥
उत्त० २० : ५२

जो चारित्राचारके गुणोंसे संयुक्त है, जो सर्वोत्तम संयमका पालन करता है, जिसने सर्व आश्रवोंको रोक दिया है। जिसने कर्मोंका क्षय कर दिया है वह विपुल, उत्तम और ध्रुवगति—मुक्तिको पाता है।